सचित्र

जैन कहानियां

लेखक की अन्य कृतियाँ

1-10	जैन कहानियाँ	... -	प्रत्येक	1-50
11-25	जैन कहानियाँ	...	,,	2-50
26	जनपद विहार	...		3 00
27	अन्त-स्मृति के प्रकार	...		1-00
28	ऐतिहासिक पञ्चशती	...		0-40
29	सत्यम् शिवम्	...		1-00
30	जम्बू स्वामी री जूर	...		0-40
31	आत्म गीत	...		0-50
32	अर्चना			
33	साधना			

सम्पादित

1	श्री कालू यशो विलास		
2	श्री कालू उपदेश वाटिका	...	12-50
3	भरत मुक्ति	...	8-00
4	अग्नि-परीक्षा	...	6 50
5	आषाढ़ भूति	...	2-50
6	श्रद्धेय के प्रति	...	2-25
7	नैतिक संजीवन	...	2-00
8	आगम और त्रिपिटक . एक अनुशीलन		25-00
9	आचार्यश्री तुलसी : जीवन-दर्शन		3-00
10	अहिंसा पर्यवेक्षण	...	3-00
11	अहिंसा विवेक	...	6-50
12	अणु से पूर्ण की ओर	...	0-75
13	अणुव्रत की ओर-1	...	2 00
14	अणुव्रत की ओर-2	...	2-00
15	आचार्यश्री तुलसी	..	2 00
16	अन्तर्ध्वनि	...	0-75
17	नया युग : नया दर्शन	...	1-50
18	विश्व-प्रहेलिका	...	15-00

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

सचित्र

जैन कहानियां

(भाग १८)

लेखक

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

भूमिका

अणुव्रत-परामर्शक मुनिश्री नगराजजी डी० लिट्०

सम्पादक

श्री सोहनलाल बाफणा



आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

SACHITRA JAIN KAHANIYAN

PART 18

by

Muni Shri Mahendra Kumarji 'Pratham'

Rs. 2.50

First Edition, 1971

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ
हौज खास, नई दिल्ली
चौड़ा रास्ता, जयपुर
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
17, अशोक मार्ग, लखनऊ
कश्मीरी गेट, दिल्ली

चित्रकार : श्री श्याम कपूर

मूल्य : दो रुपये पचास पैसे
प्रथम संस्करण, 1971

मुद्रक
स्पर्धी प्रिण्टर्स
शाहदरा, दिल्ली-32

भूमिका

मुनि महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम' द्वारा लिखित जैन कहानियां (भाग १ से १०) सन् १९६१ में प्रकाशित हुई थीं। भाग ११ से २५ अब सन् १९७१ में प्रकाशित हो रहे हैं। समग्र जैन-कथा साहित्य को शताधिक भागों में प्रस्तुत कर देने की लेखक की परियोजना है।

प्रथम १० भागों का प्रकाशन समग्र योजना के अंकन का मानदण्ड बन गया। आत्माराम एण्ड सन्स जैसे विश्रुत-प्रकाशन संस्थान से एक साथ १० भागों के प्रकाशित होते ही जैन-जगत् और साहित्य-जगत् में नवीन स्फुरणा-सी आ गई। हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों ने माना—वैदिक कहानियाँ, पौराणिक कहानियां, बौद्ध कहानियां शृंखलाबद्ध होकर साहित्यिक क्षेत्र में कब की आ चुकी हैं। जैन कहानियों का इस रूप में अवतरण यह प्रथम बार हो रहा है; अतः स्तुत्य है और एक दीर्घकालीन रिक्तता का पूरक है।

श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने कहा—बहुत पहले जैन समाज के अग्रणी लोगों ने मुझे कहा—जैन कथाओं को भी आप अपनी शैली और अपनी भाषा दें। मैंने कहा—जैन कथा-साहित्य मुझे मिले भी ? प्रस्तावक व्यक्तियों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ मेरे सामने लाकर रख दिए। वे सब देखकर मैंने कहा—ये विभिन्न भाषा और विभिन्न विषयों में आबद्ध ग्रंथ मेरी अपेक्षा के पूरक कैसे हो सकेंगे! इन ग्रंथों में तो प्रकीर्ण कथा-साहित्य है। मैं कब तक इनको पढ़ सकूँगा और कब तक कथा-संग्रह और कथा-चयन कर सकूँगा तथा कब तक फिर उस कथा-संग्रह

को अपनी भापा और अपनी शैली दे सकूँगा। मुझे तो सगृहीत व सुनियोजित कथा-साहित्य दे। मेरी इस माग का समाधान उनके पास नही था; अत. वह वात वही रह गई। जैन कहानियो के प्रस्तुत १० भाग ज्यों ही मेरे सामने आये, अविलम्ब मैं पढ गया। जैन कथा-साहित्य के प्रति मेरे मन में गुरुत्व का मनोभाव भी वना। अव इन्हें मै या कोई भी साहित्यकार आसानी से अपनी भापा दे सकता है। जैन कथा-साहित्य के विस्तार का अव यह समुचित धरातल वन गया है।

श्री जैनेन्द्रकुमार जी से जव यह पूछा गया कि सर्वसाधारण के लिए लिखी गई इन कथा-पुस्तकों को आप और अनेकों अन्य मूर्धन्य साहित्यकार रुचि व उत्साह से पढ गये, यह क्यों? उन्होने वताया, "साहित्यकार को अपने उपन्यास व अपनी कहानियों की कथा-वस्तु भी, तो दिमाग से गढनी पड़ती है। नवीन कथाओं का अध्ययन साहित्यकार के दिमाग को उर्वर बनाता है। नए वीज देता है। यही कारण है कि साहित्यकार इन सर्वसाधारण के लिए लिखी जैन-कहानियों को अविलम्ब पढ गये। साहित्यकार के अपने इस प्रयोजन के साथ-साथ जैन कथा-साहित्य की व्यापकता तो स्वतः फलित होती ही है।"

जैन कहानिया दिगम्वर-श्वेताम्वर आदि सभी जैन-समाजों मे मान्य हुई। शास्त्र सव जैन-समाजों के एक भले ही न हो, पुरातन कथा-साहित्य सवका समान है। सरल व सुबोध भापा मे जैन-कथा-साहित्य का उपलब्ध हो जाना सभी के लिए रुचिवर्धक प्रमाणित हुआ। वच्चो, वृद्धो, युवकों व महिलाओं

में जैन कहानियां पढ़ने की अद्भुत उत्सुकता देखी गई। जो महिलाएँ एक-एक शब्द जोड़-जोड़ कर पढ़ती थीं, वे दशों भाग पढ़ने तक हिन्दी धारा-प्रवाह पढ़ने लगीं। धार्मिक परीक्षाओं में इनका उपयोग हुआ। विद्यालयों के पुस्तकालयों में ये व्यापक स्तर पर पहुंचीं। जैन-जैनेतर विद्यार्थी स्पर्धापूर्वक इन्हें पढ़ते। अग्रिम भागों की स्थान-स्थान से माँग आने लगी।

सर्वसाधारण की प्रशस्ति के साथ विचार-जगत् से अनेक सुझाव भी आने लगे। कुछ लोगों ने कहा—पुस्तक-माला का नामकरण जैन कहानियां न होकर धार्मिक कहानियां या बोध-कहानियाँ ऐसा कोई नाम होता, तो इसकी व्यापकता सार्वदेशिक हो जाती। कुछेक विचारकों ने सुझाया—कहानियाँ वर्गीकृत होनी चाहिए थीं। प्रत्येक कहानी का ग्रंथ-संदर्भ उसके साथ होना चाहिए था।

नामकरण के परिवर्तन का सुझाव अधिक उपयोगी नहीं लगा। सार्वजनिक व सार्वदेशिक नाम लेने से ही कोई पुस्तक या कोई प्रवृत्ति सर्वमान्य व व्यापक बन जाती है, यह निरा भ्रम है। दूसरी बात, परम्परागत आधारों पर कथा-साहित्य की अनेक धाराएँ साहित्य-जगत् में पहले से ही प्रसारित हो चली हैं। इस स्थिति में एक परम्परा-विशेष के कथा-साहित्य को सार्वजनिकता में विलीन कर देना उस परम्परा के साथ ही न्यायोचित नहीं होता। ऐसा शक्य भी नहीं था। नामकरण के बदल देने से कथावस्तु तो बदलती नहीं। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि किसी भी कथावस्तु में अपनी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा के मूल्य प्रतिबिम्बित होते हैं। यह आधार मिटा दिया जाए, तो कथावस्तु ही निराधार व निरर्थक बन जाती है।

अस्तु, इन्ही तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक-माला का नाम 'जैन कहानियाँ' ही अधिक सगत माना गया है।

वर्गीकरण और ग्रथ-सदर्भ का सुझाव शोध विद्वानों की ओर से था। सुझाव उपयोगी तो था ही, पर, उसकी भी अपनी सीमा थी। प्रस्तुत पुस्तक-माला मुख्यत: लोक-साहित्य के रूप मे प्रकाशित हो रही है। अधिक-मे-अधिक लोग इसे पढे व सात्त्विक प्रेरणा ग्रहण करें, यह इसका अभिप्रेत है। सर्व-साधारण को कथा की आत्मा से व उसकी रोचकता से अधिक प्रेम होता है, न कि उसके मूल ग्रथ और ग्रंथकार से। किसी कथा को पढते ही शोध विद्वान् की दृष्टि इस पर पहुँचेगी कि इस कथा का मूल आधार क्या है, वह कितना पुराना है, इस कथावस्तु पर अन्य किसी कथावस्तु का प्रभाव है या नहीं, अन्य परम्पराओ मे यह कथा मिलती है या नही, आदि-आदि। शोध-विद्वान् की ये मौलिक जिज्ञासाए सर्व साधारण के लिए भूल-भुलैया है। अस्तु, पुस्तक-माला के प्रयोजन को समझते हुए प्रत्येक कथा के साथ गवेषणात्मक टिप्पण जोड़ना आवश्यक नही माना गया। फिर भी लेखक ने इन अग्रिम भागों की कथाओं में मौलिक आधार अपने प्राक्कथन में बता दिए है। इससे शोध विद्वानों को प्राथमिक दिग्दर्शन तो मिल ही जायेगा। लेखक की परिकल्पना है, इस पुस्तक-माला की सम्पूर्ति के पश्चात् समग्र कथाओ के वर्गीकृत रूप का गवेषणात्मक टिप्पणियो के साथ स्वतन्त्र संस्करण पृथक् ग्रथ के रूप मे तैयार किया जाए।

कथावस्तु की सरसता बढाने के लिए प्रकाशक ने प्रत्येक कथा में घटना-सम्बद्ध एक-एक चित्र दिया है। चित्रकार ने जैन

साधु की मुद्रा लेखक की वेशभूषा में ही चित्रित की। यह स्वाभाविक भी था। पर, स्थिति यह है कि जैन-साधु की कोई भी एक वेष-भूषा जैन-समाज में सर्वसम्मत नहीं है। दिगम्बर मुनि अचेलक हैं। श्वेताम्बर मुनि वस्त्र-धारक हैं, पर, उनमें भी दो प्रकार हैं, मुखपतिवद्ध और अमुखपतिवद्ध। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मुनि अमुखपतिवद्ध हैं तथा स्थानकवासी और तेरापन्थी; दोनो मुखपतिवद्ध हैं। स्थानकवासियों और तेरापन्थियों में भी मुखपति के छोटे-बड़ेपन व आकार-प्रकार का अन्तर है। सहस्राब्दियों पूर्व के जैन-साधुओं का श्वेताम्बर रूप था या दिगम्बर रूप, यह भी अपनी-अपनी मान्यता का विषय है। इस स्थिति में गौतम, स्थूलिभद्र आदि प्राचीन व सर्वमान्य भिक्षुओं की वेष-भूषा क्या चित्रित की जाए, यह एक जटिल प्रश्न बन जाता है। हाँ, महावीर व अन्य तीर्थंकरों के स्वरूप में सभी जैन-समाज एकमत हैं। उनकी अचेलक व्यवस्था निर्विवाद है। दसों भाग ज्यों ही प्रकाशित होकर आये और चित्रों में जहाँ-जहाँ जैन मुनियों की उपस्थिति आई, वहाँ-वहाँ उनका स्वरूप मुखपतिवद्ध आया। मुखपत्ति भी तेरापन्थी आकार-प्रकार की। लेखक के लिए यह सब संकोच का विषय बना। उनके मन में तो ऐसा कोई आग्रह था नहीं। स्थितिवश यह सब हुआ। प्रश्न यह है कि जैन-साधु का कोई भिन्न स्वरूप भी चित्रकार देता, तो क्या देता? कोई सर्वसम्मत रूप है भी तो नहीं।

लेखक के प्रति अकारण ही कोई संकीर्णता की धारणा बने, यह भी वांछनीय नहीं था; अतः आगामी दस भागों के लिए यही निर्णय लिया गया कि जैन साधु की अनिवार्यता

अस्तु, इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक-माला का नाम 'जैन कहानियाँ' ही अधिक संगत माना गया है।

वर्गीकरण और ग्रंथ-सदर्भ का सुझाव शोध विद्वानों की ओर से था। सुझाव उपयोगी तो था ही, पर, उसकी भी अपनी सीमा थी। प्रस्तुत पुस्तक-माला मुख्यत. लोक-साहित्य के रूप मे प्रकाशित हो रही है। अधिक-से-अधिक लोग इसे पढे व सात्त्विक प्रेरणा ग्रहण करे, यह इसका अभिप्रेत है। सर्व-साधारण को कथा की आत्मा से व उसकी रोचकता से अधिक प्रेम होता है, न कि उसके मूल ग्रथ और ग्रंथकार से। किसी कथा को पढते ही शोध विद्वान् की दृष्टि इस पर पहुँचेगी कि इस कथा का मूल आधार क्या है, वह कितना पुराना है, इस कथावस्तु पर अन्य किसी कथावस्तु का प्रभाव है या नहीं, अन्य परम्पराओं में यह कथा मिलती है या नहीं, आदि-आदि। शोध-विद्वान् की ये मौलिक जिज्ञासाएं सर्व साधारण के लिए भूल-भुलैया है। अस्तु, पुस्तक-माला के प्रयोजन को समझते हुए प्रत्येक कथा के साथ गवेषणात्मक टिप्पण जोडना आवश्यक नहीं माना गया। फिर भी लेखक ने इन अग्रिम भागों की कथाओं में मौलिक आधार अपने प्राक्कथन मे बता दिए है। इसमे शोध विद्वानों को प्राथमिक दिग्दर्शन तो मिल ही जायेगा। लेखक की परिकल्पना है, इस पुस्तक-माला की सम्पूर्ति के पश्चात् समग्र कथाओं के वर्गीकृत रूप का गवेषणात्मक टिप्पणियों के साथ स्वतन्त्र संस्करण पृथक् ग्रथ के रूप में तैयार किया जाए।

कथावस्तु की सरसता बढाने के लिए प्रकाशक ने प्रत्येक कथा में घटना-सम्बद्ध एक-एक चित्र दिया है। चित्रकार ने जैन

साधु की मुद्रा लेखक की वेशभूषा में ही चित्रित की। यह स्वाभाविक भी था। पर, स्थिति यह है कि जैन-साधु की कोई भी एक वेष-भूषा जैन-समाज में सर्वसम्मत नहीं है। दिगम्बर मुनि अचेलक हैं। श्वेताम्बर मुनि वस्त्र-धारक हैं, पर, उनमें भी दो प्रकार हैं, मुखपतिबद्ध और अमुखपतिबद्ध। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मुनि अमुखपतिबद्ध हैं तथा स्थानकवासी और तेरापन्थी; दोनों मुखपतिबद्ध हैं। स्थानकवासियों और तेरापन्थियों में भी मुखपति के छोटे-बड़ेपन व आकार-प्रकार का अन्तर है। सहस्राब्दियों पूर्व के जैन-साधुओं का श्वेताम्बर रूप था या दिगम्बर रूप, यह भी अपनी-अपनी मान्यता का विषय है। इस स्थिति में गौतम, स्थूलिभद्र आदि प्राचीन व सर्वमान्य भिक्षुओं की वेष-भूषा क्या चित्रित की जाए, यह एक जटिल प्रश्न बन जाता है। हाँ, महावीर व अन्य तीर्थंकरों के स्वरूप में सभी जैन-समाज एकमत हैं। उनकी अचेलक व्यवस्था निर्विवाद है। दसों भाग ज्यों ही प्रकाशित होकर आये और चित्रों में जहाँ-जहाँ जैन मुनियों की उपस्थिति आई, वहाँ-वहाँ उनका स्वरूप मुखपतिबद्ध आया। मुखपति भी तेरापन्थी आकार-प्रकार की। लेखक के लिए यह सब संकोच का विषय बना। उनके मन में तो ऐसा कोई आग्रह था नहीं। स्थितिवश यह सब हुआ। प्रश्न यह है कि जैन-साधु का कोई भिन्न स्वरूप भी चित्रकार देता, तो क्या देता? कोई सर्व-सम्मत रूप है भी तो नहीं।

लेखक के प्रति अकारण ही कोई संकीर्णता की धारणा बने, यह भी वांछनीय नहीं था; अतः आगामी दस भागों के लिए यही निर्णय लिया गया कि जैन साधु की अनिवार्यता

वाला घटना-प्रसग चित्रवद्ध किया ही न जाए। इस निर्णय से चित्रकार की स्वतन्त्रता मे बाधा आएगी। यथार्थ व प्रभावपूर्ण घटना को छोडकर उसे साधारण घटना-प्रसंगो को चित्रवद्धता देनी होगी। इससे पुस्तक व कथावस्तु का आकर्पण भी न्यून होगा, पर, इसके सिवाय प्रस्तुत समस्या का कोई समाधान भी तो नही था।

पूर्व प्रकाशित भागो के नए सस्करणो मे भी यह सशोधन उपादेय हो सकेगा। चालू संस्करणो को तो स्थित-प्रज्ञ पाठक निर्भ्रान्त भाव से पढ़ते रहेगे, यह आशा है ही।

लेखक की समग्र जैन कथा-साहित्य को इसी शृखला में लिख देने की परिकल्पना है। उन्होंने अपने लेखन का विषय ही कथा-साहित्य बना लिया है। पश्चिमी लेखकों ने इसी प्रकार एक-एक विषय पकडकर बडे-बडे साहित्यिक कार्य कर बताए है। भारतीय लेखक व साहित्यकार शृंखलाबद्ध कार्य के पर्याप्त आदी नही बने है। अब वह क्रम उनमें आ रहा है, यह सन्तोप की बात है। मुनि महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम' अपने सकल्प को परिपूर्ण कर हिन्दी जगत् को बडी देन देगे व जैन-जगत् को अनुगृहीत करेगे, ऐसी आशा है।

तेरापन्थ साधु-सघ लेखकों, कवियों एव साहित्यकारो का एक उर्वर धाम है। अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन में अनेक धाराओं मे साहित्यिक कार्य चल रहा है। इसी का एक उदाहरण मुनि महेन्दकुमार जी 'प्रथम' की ये कथा-कृतियाँ हैं।

१२ दिसम्बर १६७०

—मुनि नगराज

प्राक्कथन

जैन रास-साहित्य में सैकड़ों कथाओं का पल्लवन हुआ है। जब से संस्कृत-काव्यों के पारायण की अल्पता हुई है, रास-साहित्य का विकास हुआ है। लोक भाषा (अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती) में होने के कारण जन-साधारण में उनका प्रयोग अत्यधिक हुआ। जैन साधुओं के दैनिक व्याख्यान में भी उनका वाचन होता था; अतः राग-निबद्ध होने से उनकी विश्रुति भी विशेषतः हुई। प्रस्तुत भाग में ऐसी ही पाँच रास-कथाओं का तथा एक अन्य कथा का सार-संक्षेप है। सुरसुन्दरी ने छात्र-अवस्था में कहे गये एक वाक्य के आधार पर सात कड़ियों से राज्य लेने के अपने वचन का पालन किया। नाना संकटों से घिरकर भी वह आहत नहीं हुई। उसने चातुरी से जीवन-नौका का संचालन किया तथा अमरकुमार (पति) से तलवों में भी घी की मालिश करवाई।

मदन-धनदेव के रास की कथा का उत्स बारहवीं शताब्दी से पूर्व का है। आचार्य मुनिसुन्दर द्वारा रचित "जयानन्द चरित्र" के ९वें सर्ग में यह कथा प्रसंगोपात्त दी गई है तथा इसी काव्य में सोमप्रभाचार्य द्वारा रचित सुमतिनाथ चरित्र (प्राकृत) में यह कथा उल्लिखित है, यह भी संकेत दिया गया है। राजर्षि मणिप्रभ पूर्व भव की चरी बताते हुए विद्याधर महेन्द्रसिंह को कहते हैं, मैं वहां मदन था और तू धनदेव। और

क्रमश. चण्डा, प्रचण्डा तथा श्रीमती नामक तीनो पत्नियों के चरित्र का उद्‌घाटन करते हैं।

ललितागकुमार की सज्जनता तथा सज्जन की दुर्जनता का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करती है। ललिताग ने सब कुछ खोकर भीअपनी सज्जनता का परित्याग नही किया तथा सज्जनकुमार ने सबकुछ पाकर भी दुर्जनता के कारण अपने प्राण गवा दिये।

लोक गीत से प्रेरित होकर उत्तमकुमार विदेश-यात्रा के लिए प्रस्थान करता है तथा नाना अनुभव अर्जित करने के साथ-साथ प्रचुर सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता है।

सेठ अकलशा रास-कथा से सम्बद्ध नही है, पर, धार्मिकता तथा प्रामाणिकता का वह मूर्त उदाहरण है।

राजा भद्रसिंह की सत्यवादिता तथा धार्मिक दृढता के कारण महाराजा हरिश्चन्द्र की तरह अनेक कठोर परीक्षाएं होती हैं। पर, वह तनिक भी विचलित नही होता है। सब में पूर्णत· उत्तीर्ण होकर वह इन्द्र के कथन को पूर्णत. सत्य प्रमाणित कर देता है।

सभी कथाओं मे जीवन की अनेक अनुभूतिया चित्रित हुई हैं तथा उनके माध्यम से अध्यात्म उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुंचा है।

जैन कथाओं के आलेखन का क्रम विगत एक शताब्दी से चल रहा है। अनचाहे ही यह लेखन का मुख्य विषय बन गया है और क्रमशः अनेकानेक कथाए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्रान्तीय भाषाओं मे रूपान्तरित होकर एक शृखला में सम्बद्ध होने लगी। कथाओं का पठन तथा श्रवण सर्वाधिक

प्रिय था ही, पर, लेखन भी इनके साथ अनुस्यूत हो जायेगा, यह कल्पना नहीं थी। किन्तु, अनायास हो गया और उससे मानसिक प्रसक्ति का एक सुन्दर स्रोत फूट पड़ा। इस बीच प्राचीन आचार्यों के अनेकानेक कथा-संग्रह के ग्रंथ देखे और उनसे कथाओं का चयन आरम्भ किया। संक्षिप्त व विस्तृत दोनों शैलियों से लिखे गये ग्रंथों के स्वाध्याय से कथा-वस्तु की जानकारी में पर्याप्त योग मिला, पर, उसकी विविधता ने उतनी ही जटिलता भी प्रस्तुत कर दी। एक ही कथा के अनेक रूप निर्णायकता में कठिनता उपस्थित कर रहे थे। अपनी मनीषा से ही किसी निष्कर्ष पर पहुंचकर आलेखन का प्रयत्न किया गया है। हो सकता है, बहुत सारे स्थलों पर मत-भिन्नता तथा परम्परा की भिन्नता भी हो, पर, सर्वसम्मतता के अभाव में एक ही प्रकार की कथा का ग्रहण आवश्यक भी था। जहां तक स्वयं की मान्यताओं का प्रश्न था, बहुत सारे स्थलों पर उनका आग्रह न रखकर कथा वस्तु को ज्यों-का-त्यों रखा गया है, ताकि तत्कालीन परिस्थितियों के बारे में पाठक अपना निर्णय कर सके। मैंने अपना निर्णय पाठकों पर थोपने का यत्न नहीं किया है। बहुत सारे स्थलों पर कथावस्तु में तनिक-सा परिवर्तन कर देने पर विशेष रोचकता भी हो सकती थी, किन्तु, प्राचीन कथाओं की मौलिकता को बनाये रखने के लिए ऐसा भी नहीं किया गया है।

जैन कथा साहित्य जितना विस्तीर्ण है, उतना ही सरस भी है। आज तक वह आधुनिक भाषा में नहीं आया था; अतः वह अपरिचित भी रहा। यह मुझे अनुमान नहीं था कि पच्चीस

भाग लिये जाने के बाद भी उसकी थाह अज्ञात ही रहेगी। ऐसा लगता है, जैन कथा-साहित्य के छोर को पाने में अनेक वर्षो की अनवरत तपस्या आवश्यक है। आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका आदि में कथाओं का विपुल भण्डार है। राम साहित्य ने उसमें विशेषत: और ही अभिवृद्धि की है। ज्यों-ज्यों गहराई में पहुचा जायेगा, त्यों-त्यों विशिष्ट प्राप्ति भी होती जायेगी तथा और गहराई में घुसने के लिए उत्साह भी वृद्धिगत होता जायेगा।

मुझे प्रसन्नता है कि जैन कहानियो का समाज के सभी वर्गों में विशेष समादर हुआ। कहना चाहिए, उसी कारण इस दिशा में निरन्तर लिखते रहने का उत्साह जगा। आरम्भ में योजना छोटी थी, पर, अब वह स्वत. काफी विस्तीर्ण हो चुकी है। पहली बार दश भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुए थे और अब दूसरी बार अगले पन्द्रह भाग प्रस्तुत हो रहे हैं। इसी क्रम से बढते हुए शीघ्र ही सौ भागों की अपनी मंजिल तक पहुंचना है। भगवान् श्री महावीर के २५वें शताब्दी समारोह तक यदि यह कार्य सम्पन्न हो सका, तो विशेष आह्लाद का का निमित्त होगा।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के वरद आशीर्वाद ने साहित्य के क्षेत्र मे प्रवृत्त किया और अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराज जी डी॰ लिट्॰ के मार्ग-दर्शन ने उसमें गतिशील किया। जीवन की ये दोनों ही अमूल्य थाती हैं। मुनि विनयकुमारजी 'आलोक' तथा मुनि अभयकुमारजी का सतत साहचर्य-सहयोग लेखन में निमित्त रहा है।

१५ नवम्बर ७० —मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

अनुक्रम

: १ :

सुरसुन्दरी

अरिदमन चम्पा नगरी का राजा था। उसके रतिसुन्दरी नामक महारानी थी। एक कन्या हुई। वह अतिशय सुन्दर थी; अतः उसका नाम सुरसुन्दरी रखा गया। जब वह सात वर्ष की हुई, तो राजा ने उसे विद्याभ्यास के लिए एक आचार्य की पाठशाला में भेजा। उसकी प्रतिभा और स्मरण-शक्ति प्रखर थी। संकेत मात्र से ही वह पाठ का हार्द ग्रहण कर लेती थी।

चम्पा में उसी समय धनपाल नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। वह बहुत बड़ा व्यापारी था। चम्पा में, आस-पास के राज्यों व समुद्र-पार प्रदेशों में भी वह व्यापार करता था। व्यवसाय में उसने अच्छी ख्याति अर्जित की थी। सेठानी का नाम धनवती था। धन-सम्पत्ति और प्रतिष्ठा प्रचुर थी; किन्तु, पुत्र नहीं था। सेठ और सेठानी को इससे अपार दुःख था। कुछ वर्षों बाद वह दुःख दूर हुआ। सेठ के घर एक तेजस्वी

पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम अमरकुमार रखा गया। जब वह आठ वर्ष का हुआ, सेठ ने विद्याभ्यास के लिए उसे भी उसी आचार्य की पाठशाला मे भेजा, जहां सुरसुन्दरी पढा करती थी। अमरकुमार की बुद्धि भी बहुत प्रशस्त थी। आचार्य द्वारा एक बार समुच्चारित श्लोक को वह तत्काल याद कर लेता था। थोड़े से समय में ही वह बहत्तर कलाओं में निपुण हो गया।

आचार्य को एक बार विशेष प्रयोजन से अन्यत्र जाना पड़ा। उनके पास पढ़ने वालों में छात्र और छात्राएं, दोनों थी। दोनों के अलग-अलग विभाग थे। अमरकुमार को दोनों ही विभागो का काम सौंपा गया। एक दिन मध्याह्न का समय था। विद्यालय के चारो ओर सुन्दर उद्यान था। वृक्षो से छन-छन कर मन्द-मन्द पवन आ रहा था। कुमारी सुरसुन्दरी ने उस दिन सुस्वादु भोजन डटकर किया था। जब वह अपने विद्यालय के कक्ष मे बैठी थी, नीद आने लगी। वह सो गई। अमरकुमार विद्यालय के निरीक्षण के लिए अपने मित्र के साथ वहां आया। उसने सुरसुन्दरी को लेटे देखा। साथ ही उसने राजकुमारी की साडी के पल्ले पर गाँठ लगी देखी। कौतूहलवश अमरकुमार ने उस गांठ को खोला। उसमें सात कोड़ियां निकली।

कुमार ने उन्हें अपने मित्र को दिया और कहा--इनसे कुछ मिठाई खरीद लाओ। मित्र ने वैसा ही किया। अमरकुमार ने वह मिठाई सभी छात्रों में बांट दी। थोड़ी-सी अपने पास रख ली। कुछ देर बाद सुरसुन्दरी जगी। अमरकुमार ने बची हुई मिठाई उसे दी। सुरसुन्दरी ने तत्काल प्रश्न किया—यह मिठाई कहां से आई? अमरकुमार ने कहा—तुम्हारी साड़ी के पल्ले पर बंधी सात कोड़ियों से मैंने यह मिठाई मंगाई है। सुरसुन्दरी गुस्से में भर गई। उसने सरोष कहा—आचार्य की अनुपस्थिति में आप सब काम अच्छे कर रहे हैं, किन्तु, बिना मेरी अनुमति के आपने यह कैसे किया? यह शिक्षण आपने कहाँ से प्राप्त किया? अमरकुमार भी क्षुभित हुआ। उसने कहा--"तेरे अल्प मूल्य की कोड़ियां मैंने ली हैं। इनके लिए तू इतना रोष क्यों कर रही है? इन सात कोड़ियों से तू क्या कर लेती? इस नगण्य-सी वस्तु के लिए भी तू मुझे इस प्रकार घूर रही है?"

सुरसुन्दरी ने अमरकुमार का प्रतिवाद किया। उसने कहा—मैं उनसे राज्य लेती? आपको उससे क्या प्रयोजन? अमरकुमार शान्त रहा। अधिक बोलने में उसने हित नहीं समझा किन्तु, राजकुमारी

का कथन उसके हृदय में चुभ गया। वह मन-ही-मन कुनमुनाया, समय आने पर देखूंगा, सात कौड़ियों से यह कैसे राज्य लेती है? कुमार वहां से चला आया और अपने काम में लग गया। कुछ दिनों बाद आचार्य वापस आ गये। सभी काम व्यवस्थित चलने लगे। जब अध्ययन समाप्त हुआ, तो परीक्षा हुई। छात्रों में अमरकुमार ने पहला स्थान प्राप्त किया और छात्राओं में सुरसुन्दरी ने।

सुरसुन्दरी यौवन में आई। राजा ने उसके योग्य वर खोजने के लिए अपने योग्य व्यक्तियों को भेजा, किन्तु, उपयुक्त वर नहीं मिला। राजा की चिन्ता बढ़ती गई। एक बार उसने आचार्य से इसी सम्बन्ध में पूछा। आचार्य ने उत्तर दिया—"राजन्! आप योग्य की परिभाषा ठीक नहीं कर रहे हैं। मैं तो योग्य उसे समझता हूं, जो अपने परिवार के रथ को सुगमता से आनन्द पूर्वक चला सके। जिसकी प्रतिभा प्रखर हो। जो सद्गुणी हो। बहत्तर कलाओं में निपुण हो। राज्य, धन-वैभव और ऐश्वर्य आदि तो उसके अनुगामी होते हैं।" राजा ने अपने चिन्तन को दूसरी ओर मोड़ा। शहर के उच्च वंशों की ओर उसका ध्यान गया। अमरकुमार का सहसा स्मरण हो आया।

का कथन उसके हृदय में चुभ गया। वह मन-ही-मन कुनमुनाया, समय आने पर देखूंगा, सात कौड़ियों से यह कैसे राज्य लेती है ? कुमार वहां से चला आया और अपने काम में लग गया। कुछ दिनों बाद आचार्य वापस आ गये। सभी काम व्यवस्थित चलने लगे। जब अध्ययन समाप्त हुआ, तो परीक्षा हुई। छात्रों में अमरकुमार ने पहला स्थान प्राप्त किया और छात्राओं में सुरसुन्दरी ने।

सुरसुन्दरी यौवन में आई। राजा ने उसके योग्य वर खोजने के लिए अपने योग्य व्यक्तियों को भेजा, किन्तु, उपयुक्त वर नहीं मिला। राजा की चिन्ता बढ़ती गई। एक बार उसने आचार्य से इसी सम्बन्ध में पूछा। आचार्य ने उत्तर दिया—"राजन् ! आप योग्य की परिभाषा ठीक नहीं कर रहे हैं। मैं तो योग्य उसे समझता हूँ, जो अपने परिवार के रथ को सुगमता से आनन्द पूर्वक चला सके। जिसकी प्रतिभा प्रखर हो। जो सद्गुणी हो। बहत्तर कलाओं में निपुण हो। राज्य, धन-वैभव और ऐश्वर्य आदि तो उसके अनुगामी होते है।" राजा ने अपने चिन्तन को दूसरी ओर मोड़ा। शहर के उच्च वंशों की ओर उसका ध्यान गया। अमरकुमार का सहसा स्मरण हो आया।

आचार्य से उसके बारे में चर्चा की। आचार्य ने कहा—"मैंने दोनों को एक साथ पढ़ाया है। दोनों की प्रकृति में और व्यवहार में बहुत समानता पाई है। मुझे तो विश्वास है, दोनों का जीवन बहुत सुख से गुजरेगा।"

राजा ने अपने विचार को दृढ़ किया। अमरकुमार और सुरसुन्दरी को उसने एक दिन राज-सभा में बुलाया। आचार्य और सैंकड़ों सम्भ्रान्त नागरिक उपस्थित थे। राजा ने दोनों की परीक्षा के निमित्त दोनों को परस्पर प्रश्न पूछने के लिए कहा और कुछ प्रश्न अपनी ओर से भी प्रस्तुत किये। अमरकुमार और सुरसुन्दरी ने उन सब का बहुत सुन्दर उत्तर दिया। राजा और आचार्य को बहुत प्रसन्नता हुई। राजा ने सेठ धनपाल को अपने पास बुलाया और सुरसुन्दरी के लिए अमरकुमार का प्रस्ताव रखा। सेठ को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने उसी समय प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। शुभ मुहूर्त में दोनों का विवाह हो गया।

अमरकुमार और सुरसुन्दरी का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त आमोद-प्रमोद के साथ बीत रहा था। दोनों में हार्दिक प्रीति थी। एक बार अमरकुमार पिता से अनुमति लेकर समुद्र-पार व्यवसाय के लिए चला। सुरसुन्दरी को जब यह ज्ञात हुआ, तो उसने भी साथ

चलने के लिए कहा। अमरकुमार यद्यपि उसे साथ ले जाना नहीं चाहता था, किन्तु, उसके आग्रह को टाल भी न सका। सैंकड़ों व्यक्तियों के परिवार से शुभ समय में अमरकुमार ने प्रस्थान किया। कुछ दिन बाद सैंकड़ों कोश का मार्ग लांघकर सिंहल द्वीप पहुंचा। वहाँ मीठे पानी की खोज में जहाज रोका गया। एक वृद्ध अनुभवी नाविक आया। उसने कहा—"थोड़ी देर ठहरो। सूर्यास्त होते ही यहाँ प्रतिदिन एक पापात्मा राक्षस आता है। वह बहुत उन्मत्त है और सबको मार देता है। अपने को उससे बचाना है। चार-छः घण्टे अपने को जहाज छोड़ देना चाहिए और इधर-उधर घूमते रहना चाहिए। जब राक्षस चला जाये, अपने को आगे चलना चाहिए।"

सभी यात्री जहाज से उतर गये और समुद्र-तट पर आनन्द पूर्वक घूमने लगे। ईन्धन इकट्ठा किया गया और भोजन पकने लगा। अमरकुमार और सुर-सुन्दरी भी तट पर घूमने लगे। प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर दोनों ही बहुत मुदित हुए। घूमते-फिरते दोनों थक गए, अतः एक वट-वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। सुरसुन्दरी बहुत थक गई थी, अतः वह पति के क्रोड में अपना सिर रखकर निश्चिन्त लेट गई। उसे



सुरसुन्दरी पति के क्रोड में अपना सिर रखकर निश्चिन्त लेट गई। उसे गहरी नींद आ गई।

गहरी नीद आ गई।

वचन का घाव कभी भरता नही है। जब-जब उसकी स्मृति होती है, बेहद वेदना होती है। शान्त वन में अमरकुमार को सुरसुन्दरी द्वारा छात्र-जीवन में कहा गया वाक्य, सात कोड़ियों में मैं राज्य ले लेती, याद आ गया। सुरसुन्दरी के प्रति रहा हुआ उसका स्नेह प्रतिशोध में बदल गया। उसने सोचा, अब अवसर आया है। देखता हूँ, यह राज्य कैसे लेती है।

अमरकुमार ने एकाकिनी सुरसुन्दरी को जगल में छोड़ दिया और स्वयं बन्दरगाह पर आ गया। आते-आते उसने उसकी साड़ी के किनारे पर सात कोड़ियां बांध दीं और पास पड़े केसू के एक पीले फूल से वहां लिख दिया—"इन सात कोड़ियों से तू राज्य प्राप्त करना।" जब वह अपने जहाज के पास पहुँचा, तो राक्षस का भय दूर हो गया था। बहुत सारे व्यक्ति सवार हो चुके थे और कुछ सवार हो रहे थे। अचानक अमरकुमार ने रोना-चिल्लाना आरभ किया—"मेरी पत्नी को अधम राक्षस खा गया है। मैं निराधार हो गया हूँ और मेरा घर उजड़ गया है।" कुमार के शोक में उपस्थित सभी व्यक्ति सम्मिलित

हो गये। सभी ने उसे धीरज बंधाया और ज्यों-त्यों आगे चलने के लिए तैयार किया।

काफी रात बीतने पर सुरसुन्दरी की आंखें खुलीं। उसने वहाँ अपने को एकाकिनी पाया। गहराते अंधेरे में उसने चारों ओर आंखें फाड़-फाड़कर देखा, पर, अमरकुमार कहीं नजर नहीं आया। सुरसुन्दरी ने सोचा, अमरकुमार मेरे लिए फल-फूल लाने के लिए कहीं गये होंगे। उसने भी वृक्षों और लताओं को एक-एक कर छान डाला, पर, वह नहीं मिला। वह हताश होकर एक स्थान पर बैठ गई और चिन्तन करने लगी—"क्या पतिदेव मुझे छोड़कर कहीं चले गये? वे मुझे छोड़कर क्यों जाते? क्या मैं उनके लिए दुःख-दायिनी थी? क्या मैंने उनके इंगित की कभी अव-गणना की थी?" ज्यों-ज्यों वह विचारों की गहराई में उतरती जा रही थी, दुःख उमड़ता जा रहा था। धीरे-धीरे वह सुबकने लगी। आंसुओं की धारा बह चली। आंखें पोंछने के लिए उसने अपनी साड़ी को उठाया। गांठ लगा वह कोना हाथ आया। वह चौंकी। उसने उस गांठ को खोला और पास ही में लिखे वाक्य को पढ़ा—"इन सात कोड़ियों से तू राज्य प्राप्त करना।" उसके पैरों के नीचे से धरती खिसक गई।

उनकी आंखों के सामने छात्र-जीवन का वह पूरा वृत्त आ गया। उसे पूरा विश्वास हो गया, उस कथन का प्रतिशोध ही लिया गया है। किन्तु, इस निर्जन अरण्य में मैं क्या कर सकूंगी ? कहां जाऊंगी ? बहुत समय तक वह वहां रोती रही। अन्त में धीरज से उठी। सातों कौड़ियों को पुनः बांधा और नवकार मंत्र के जाप में लग गई।

निकटवर्ती पर्वत से अचानक भयंकर आवाज सुनाई दी। सुरसुन्दरी ने इतनी भयानक आवाज पहले कभी नहीं सुनी थी। वह धूजने लगी। उसने पर्वत की ओर देखा। एक वीभत्स यक्ष दिखाई दिया। यक्ष ने उसे देखा और पलक मारते ही उसके पास पहुंच गया। सुरसुन्दरी भयातुर कांपने लगी और उच्च स्वर से नवकार मन्त्र का जाप करने लगी। यक्ष को वह शब्दोच्चारण मधुर लगा। उसका कोप शान्त हो गया। उसके मन में उसके प्रति ममता जगी और प्रिय सम्बोधन से बोला—"पुत्री ! तू कौन है ?" सुरसुन्दरी का हृदय आनन्द से भर गया। शान्त होकर उसने अपना सारा घटना-चक्र सुनाया। यक्ष ने कहा—"बेटी ! मैं तेरा रक्षक हूं। तू सुखपूर्वक यहां रह।"

सुरसुन्दरी अपने दुःख को एक बार भूल गई और

यक्ष का निमंत्रण स्वीकार कर पर्वत-गुफा में उसके पास रहने लगी। कुछ दिन बाद किसी एक व्यापारी के जहाज उसी द्वीप पर जल भरने के लिए ठहरे। सार्थवाह का प्रमुख सेठ और कुछ-एक दूसरे व्यक्ति तटवर्ती प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने के लिए घूमने लगे। सेठ की दृष्टि सहसा सुरसुन्दरी पर पड़ी। सेठ ने उसे वनदेवी जानकर नमस्कार किया। सुरसुन्दरी ने कहा—"महानुभाव! मैं देवी नहीं हूं, अपितु दुःखिनी महिला हूँ।" प्रसंगवश उसने अपना पूरा आत्म-वृत्त बताया और उसके साथ जहाज में चलने के लिए पूछा। रास्ते में कहीं मेरे पतिदेव मिल जायें, तो आप मुझे उन्हें सौंप दें। मैं पतिव्रता हूँ; अतः छोटे-बड़े सभी पुरुषों को पिता और भाई समझती हूँ। यदि आप मेरे सतीत्व पर आँच न आने दें, तो मैं आपके साथ जाना चाहती हूँ। सेठ ने उसे स्वीकार कर लिया। सुरसुन्दरी जहाज में बैठी और जहाज आगे चल दिया।

सेठ जब-जब सुरसुन्दरी को देखता, वासना जागृत होती। वह अपने को नियंत्रण में रख नहीं पाता। वह पुनः-पुनः उसके पास आता और उसे अपने प्रति आकर्षित करने का प्रयत्न करता। सुरसुन्दरी कुछ

दिन तो उसके अभिप्राय को नहीं समझ पाई; किन्तु, जब उसे तनिक-सी आशंका हुई, वह सिंहनी की तरह गरज उठी। सेठ ने भी कड़क के साथ चुनौती दी—"मैं बल-प्रयोग करने से भी नहीं चूकूंगा। सहर्ष स्वीकृति में तेरा सम्मान है और तेरे प्रति मेरा बढ़ता हुआ अनुराग है। मैंने तुझे अपने जहाज में इसी उद्देश्य से स्थान दिया है।"

सुरसुन्दरी ने गहरा उसांस छोड़ा। वह बोली—"अपने सतीत्व के समक्ष मैं चक्रवर्ती की सम्पत्ति और उसके अनुराग को भी नगण्य समझती हूँ। अब तुम आगे कुछ भी मत बोलना। मैं प्राण-त्याग कर सकती हूँ, पर, अपने अस्तित्व पर आंच आने नहीं दूंगी।"

दोनों में तना-तनी की बातें हो रही थीं। सेठ सरोष अपनी मांग रख रहा था और वह उसे ठुकराती जा रही थी। उसे अपना भविष्य अत्यधिक धुंधला लग रहा था। उसने समुद्र की ओर दृष्टि डाली। जहाजों की गति मन्द हो चुकी थी। समुद्र का जल शान्त था। जल-समाधि के अतिरिक्त अपने बचाव का उसे अन्य मार्ग दिखाई नहीं दिया। साहसपूर्वक नवकार महामंत्र के स्मरण के अनन्तर बोली—"मेरा शरीरान्त हो सकता है, किन्तु, शीलान्त नहीं।" और

वह अगाध समुद्र में कूद पड़ी। सेठ ने हल्ला मचाया और उसे निकालने के लिए मल्लाहों को कहा। किन्तु, किसी ने भी साहस नहीं किया।

एक सौभाग्यशाली व्यक्ति की अवस्थिति सैकड़ों व्यक्तियों की सुरक्षा का निमित्त बन जाती है और अनवस्थिति विनाश का। सुरसुन्दरी जब तक जहाज में थी, जहाज अच्छी तरह से चल रहा था। उसकी अनुपस्थिति के अनन्तर समुद्र में भयंकर तूफान उठा। जहाज उस तूफान में फंस गया। वह भारी जहाज आकाश में उछला और औंधा होकर समुद्र में गिर पड़ा। जहाज के टुकड़े-टुकड़े हो गये। कोई भी यात्री बच नहीं सका। संयोगवश उस भग्न जहाज का एक काष्ठ अवशेष सुरसुन्दरी के हाथ लगा। वह उसके सहारे तैरती हुई वेनातट नामक बन्दरगाह पर पहुँची। तट पर अवस्थित व्यक्तियों ने उसे बाहर निकाला और उपचार पूर्वक स्वस्थ किया। उसके दुःख-सुख का साथी परमेष्ठी पंचक का ही स्मरण था।

शहर में एक विचित्र घटना घटी। राजा का एक विशिष्ट हाथी उन्मत्त होकर गजशाला से भाग निकला। शहर में हाहाकार मच गया। सारे शहर में घूमता हुआ वह बन्दरगाह पर पहुँच गया। आस-पास

के खड़े व्यक्ति त्रसित होकर इधर-उधर दौड़ने लगे। देखते-देखते वह सुरसुन्दरी के पास पहुँच गया। उसने उसे सूंड से पकड़ा और आकाश में उछाल दिया। सुरसुन्दरी भयभीत हो, रक्षा के लिए चिल्लाने लगी। आकाश से वह नीचे गिरने लगी। संयोगवश एक जहाज उधर से जा रहा था। वह पानी में न गिरकर उसके ऊपर गिरी। नाविक ने उसे देखा। वह उसके पास आया। उसके लावण्य पर वह मुग्ध हो गया। उसने अपने विचार उसके समक्ष रखे। सुरसुन्दरी ने उसे टोका और अपना अब तक का वृत्तान्त कहा। उसे समझाया, तो उसने अपने कुत्सित विचारों को त्याग दिया।

नाविक समझा, पर, उसके मन में एक विचार आया, यदि इसे वेश्या के हाथ बेच दिया जाये, तो मुझे बहुत सारा धन मिल सकता है। वह समीपवर्ती सोहन कूल नामक बन्दरगाह पर पहुंचा। किनारे पर जहाज ठहराकर, सुरसुन्दरी को साथ लेकर एक वेश्या के यहाँ पहुँचा। वेश्या ने उसे देखते ही अपने पास रख लिया और नाविक को यथेच्छित धन दे दिया।

वेश्या ने सुरसुन्दरी को अपना काम सिखाने के लिए प्रशिक्षण देना आरम्भ किया। वह अपने मन मे

ही बोली—"हा ! देव ! मुझे कहां लाकर खड़ा किया है। मेरी अभी और कितनी परीक्षाएं अवशिष्ट हैं। उसने चातुर्य से काम लिया। वेश्या से कहा—"मैं तीन दिन के लिए नियमबद्ध हूँ। यदि आप तब तक के लिए मेरी बात मान लें, तो उसके बाद मैं आपके प्रस्ताव पर कैसे मुकर सकूंगी।" वेश्या ने उसका कथन स्वीकार कर लिया। सुरसुन्दरी वहाँ से भाग निकलने का मौका देखने लगी। बार-बार अरिहन्त प्रभु का स्मरण करती और प्रतिपल जागरूक रहती।

राजा के विशेष निमंत्रण पर प्रमुख वेश्या इसी बीच एक दिन राज-सभा में गई। दूसरी स्त्रियां एकत्रित होकर हास्य-विनोद के साथ एक ओर वार्तालाप कर रही थीं। सुरसुन्दरी ने अवसर का लाभ उठाया। वह वहां से छुपकर निकली और तत्काल तट पर पहुंच गई। अपने विचित्र जीवन से वह पूर्णतया ऊब गई थीं; अतः जल-समाधि के लिए तत्पर हुई। उसके प्रत्येक कार्य के आरम्भ में नमस्कार महामंत्र का जाप अवश्यम्भावी था। उसने ध्यानस्थ होकर जाप किया और समुद्र में छलांग भर ली।

जीवन-मुक्त होना, दुःख-मुक्त होने का सही मार्ग नहीं है। वह ज्यों ही समुद्र में गिरी, एक विशाल



सुरसुन्दरी को साथ लेकर वह एक वेश्या के यहां पहुंचा। वेश्या ने उसे देखते ही अपने पास रख लिया।

मत्स्य उसे निगल गया। उसी समय एक धीवर वहां आया। उसने जाल फेंका। वह बड़ा मत्स्य उसमें फंस गया। धीवर को हर्ष होना स्वाभाविक था। घर आकर उसने उसे चीर डाला। उसके उदर से सुर-सुन्दरी निकली। उसका सौंदर्य देखकर धीवर के विस्मय का पार नहीं रहा। वह बेहोश थी; अतः अग्नि-पानी से उसका उपचार किया गया।

राज्य की सुन्दर और श्रेष्ठ वस्तु पर राजा का स्वामित्व होता है; यह सोचकर धीवर ने उसे राजा को भेंट किया। देखते ही राजा मोहित हो गया। उसे मुख्य रानी बनाने के हेतु अपने महलों में रख लिया। किसी का जब अनिष्ट से बचाव होने का होता है, तो कोई निमित्त अवश्य बन जाता है। राजा की मुख्य रानी ने सुरसुन्दरी को देखा। उसका अपना स्वार्थ जगा। अपना मुख्य स्थान उसे खतरे में लगा। सुरसुन्दरी से बात की और उसे गुपचुप में वहां से भगा दिया।

सुरसुन्दरी सोचती जा रही थी, मेरे दुर्भाग्य का कहीं अन्त भी आयेगा या नहीं? मौत भी मेरे से रूठ गई है। वह विकट अरण्य में पहुंच गई। उसकी उमस और घुटन बढ़ती जा रही थी। शून्य वन में चोर-

लुटेरों व हिंस्रपशुओं के अतिरिक्त भला आदमी कौन मिल सकता था। अचानक वह एक चोर की दृष्टि में पड़ी। स्त्री का लावण्य अक्सर पुरुष के मन को कलुषित कर देता है। चोर ने उसे पत्नी बनने के लिए विवश किया। सुरसुन्दरी ने उसका प्रतिवाद किया और रक्षण की भीख मांगी। किन्तु, चोर के विचार नहीं बदले। चोर ने उसे धमकाया और मारने के लिए तलवार उठाई। सुरसुन्दरी का तो एक ही सहारा था। उसने शान्तभाव से खड़े होकर जाप आरम्भ कर दिया। चोर का उठाया हुआ हाथ उसी तरह रह गया। लाख प्रयत्न करने पर भी वह नहीं झुका। तलवार नीचे गिर गई। चोर का कुछ विवेक जागृत हुआ। उसे अब पता चला, यह कोई सती है। इसे सताने में मेरा भला नहीं है। उसने सुरसुन्दरी से क्षमा मांगी और स्वेच्छापूर्वक आगे जाने दिया।

भयंकर जंगल के विषम मार्ग को लांघती हुई वह एक सरोवर पर पहुंची। स्वच्छ और ठण्डा पानी पिया। कहीं से फल-फूल बीन लाई और भूख शान्त की। सरोवर का किनारा था। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी, विषम मार्ग की थकान थी; वह विश्राम के निमित्त वहां लेट गई। नींद आना स्वाभाविक था।

आकाश में एक गरुड़ पक्षी उड़ रहा था। उसने उसे मृत जाना; अतः चोंच में पकड़ कर ले उड़ा। सुरसुन्दरी जग गई। गरुड़ ने उसे जीवित समझकर नीचे गिरा दिया। सुरसुन्दरी का सद्भाग्य था, वह धरती पर नहीं गिरी। एक विद्याधर उस समय उसी मार्ग से जा रहा था। सुरसुन्दरी उसके विमान में गिरी। दुःखित अबला को देखकर वह उसके पास आया। विनम्रता से उसका सारा जीवन-वृत्तान्त पूछा। सुरसुन्दरी ने आदि से अब तक की अपनी घटनात्मक आप-बीती कही। सुनकर विद्याधर विस्मित हुआ और सहर्ष उसे बहिन बनाकर अपने घर ले आया। सुरसुन्दरी ने विद्याधर से कहा—"मैं जैन मुनि के दर्शन करना चाहती हूं।" विद्याधर ने उसके कथन का स्वागत किया और दोनों तत्काल नन्दीश्वर द्वीप पर पहुंचे। ज्ञानी मुनि को नमस्कार किया। उपदेश सुना और सुरसुन्दरी ने अपना आत्म-वृत्त कहा और पति का मिलन कब होगा, यह पूछा। मुनि ने कहा—तुम दोनों का मिलन वेनातट पर होगा।

सुरसुन्दरी विद्याधर के घर आ गई। विद्याधर की चारों स्त्रियों ने उसका बहुत सत्कार किया। प्रतिदिन वे उनके पास आतीं और लीन होकर धर्म-चर्चा

करती।

o o ‹

अमरकुमार घूमता हुआ वेनातट पर पहुंचा। राजा से मिला और उसे सुन्दर उपहार भेंट किया। राजा उस पर प्रसन्न हुआ। राजा ने उसका सत्कार किया और व्यापार के लिए अनुमति दी। एक दिन अमरकुमार बाजार में घूमता हुआ व्यापारियों के साथ बातें कर रहा था। कुछ एक आरक्षक पुरुष आए और उन्होंने उसे धोखेबाजी के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया। हथकड़ियाँ पहना दी और उसे विमलवाहन नामक चुंगी-अधिकारी के पास प्रस्तुत कर दिया।

यह अनालोचित भयंकर आपत्ति कहाँ से आई? मैं धोखेबाज कैसे हूँ? इस प्रकार अमरकुमार विभिन्न विचारों में खो गया। उस समय उसे सुरसुन्दरी का स्मरण भी हो आया। वह कहाँ होगी? कैसे होगी? उसका रक्षण किसने किया होगा? यदि मैं उसे नहीं छोड़ता, तो कितना अच्छा होता। सम्भव है, मैं इस विपत्ति में नहीं पडता। नाना प्रकार के विचारों और तर्कों-वितर्कों से उसका मस्तिष्क भर गया। दूसरी ओर चुंगी-अधिकारी ने प्रश्नों की झडी लगा दी। जैसे तैसे अमरकुमार ने उनका समाधान दिया, किन्तु, समाधान

हो नहीं पाया। वह वहाँ से छूटने के लिए तड़फड़ाता रहा और आजिजी करता रहा। विमलवाहन ने उसके समक्ष एक शर्त रखी। उसने कहा—"यदि तू मेरे जूतों पर मालिश करता हुआ सवा सेर घी उनमें समा दे, तो तुझे छोड़ा जा सकता है।" अमरकुमार ने विवश होकर उसे स्वीकार किया।

अमरकुमार बहुत सुकुमार था। ऐश्वर्य में पला-पुषा था। कभी डेढ़ सेर वजन भी उसने अपने हाथ से नहीं उठाया था। डेढ़ सेर घी मालिश से जूतों में पहुँचा देना उसके वश की बात नहीं थी। छः-सात घण्टे परिश्रम करता रहा, किन्तु, पाव घी भी नहीं समा पाया। अमरकुमार किसी प्रकार उस बन्धन से छूटना चाहता था। विमलवाहन को झपकी आ गई। उसने बचे हुए घी को पीना आरम्भ किया। विमलवाहन की अचानक आँखें खुल गईं और वह रंगे हाथों पकड़ा गया। उसने उसे टोका। अमरकुमार सकपका गया। दीनता के साथ बोला—"बन्धुवर! कुछ भी कहो। ऐसा काम मैंने जीवन में कभी किया ही नहीं था। आप भी सोचें, इतना कठोर दण्ड मैं कैसे झेल सकता हूँ।"

विमलवाहन ने अनुग्रह की भाषा में कहा—"सेठ

आखिर यह भी तो बताओ, तुम कौन हो ? कहाँ के रहने वाले हो और इतने अधीर कैसे हो ?" अमरकुमार कुछ आश्वस्त हुआ और उसने अपना सारा वृत्त सुनाया। उसने अनुताप पूर्वक कहा—"मैंने किसी के साथ धोखा नही किया। केवल अपनी पत्नी के साथ विश्वासघात किया था। वह एक विनोद था; किन्तु, वह मेरे लिए अभिशाप बन गया। मैंने उस महिला-रत्न को जान-बूझकर खो दिया। अपनी निधि को लुटा दिया। मैं बहुत मूर्ख था। ऐसी धर्म-पत्नी का किसी भी जन्म में मिल पाना दुर्लभ है।"

गम्भीरतापूर्वक विमलवाहन ने कहा—"मान लो, यदि सुरसुन्दरी अभी जीवित हो तो ?"

अमरकुमार ने निराशापूर्वक कहा—"महानुभाव! वह जीवित नही हो सकती। उस पर्वत में रहने वाले निर्दय यक्ष के द्वारा वह कभी प्रेत्यधाम पहुंच चुकी होगी ?"

विमलकुमार ने स्मित-हास्य के साथ कहा—"वह अभी जीवित है। यदि चाहो, तो मैं तुम्हें उससे मिला सकता हूँ।"

अमरकुमार की आँखों में उल्लास छलक पड़ा। उसने मौन स्वीकृति दी। विमलवाहन उसे अन्दर के

कमरे में ले गया। वह भीतर गया। अमरकुमार उत्सुकतापूर्वक कमरे के द्वार पर पलकें बिछाये देखता रहा। दश-पांच क्षणों में सुरसुन्दरी आई और अमरकुमार के समक्ष खड़ी हो गई। उसे देखते ही वह आश्चर्य में डूब गया। आत्मीयता के साथ प्रश्न किया—"मेरी अर्धाङ्गिनी सुरसुन्दरी क्या तुम ही हो ?"

सुरसुन्दरी ने विनम्रता से कहा—"प्राणदेव ! अरिदमन राजा की पुत्री सुरसुन्दरी मैं ही हूँ।"

अमरकुमार को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने कहा—"कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। तुम्हारा अचानक मिलन यहाँ कैसे हो सकता है ? मेरे जैसे अभागी को खोई हुई अमूल्य वस्तु का पुनः प्राप्त होना, आशातीत है। मैं तुम्हारी सारी घटनाएं जानना चाहता हूँ।"

सुरसुन्दरी ने धैर्य और शालीनता के साथ कहा—"प्रियवर ! यह सब कुछ मेरे कर्मों का ही फल था। दूसरे व्यक्ति तो उसमें निमित्त ही हुआ करते हैं।"

विलग होने से विद्याधर के यहां आगमन तक की विस्तृत घटनाएँ सुनाईं और कहा—"मैं वहाँ पर बहुत

किन्तु, लाभ नहीं हुआ। अन्ततः सेठ ने उस पंखे को खरीदा और उसका प्रयोग किया। दाह-ज्वर शान्त हो गया। सेठ ने वह पंखा राजा को भेंट किया। राजा ने व्याधि-हर और चामत्कारिक उस पंखे को देखकर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। उसने उसके निर्माता को याद किया। मैं राज-सभा में गई। राजा ने मुझे इच्छित वस्तु मांगने के लिए कहा। मैंने चिन्तनपूर्वक चुँगी-अधिकारी का पद मांगा। उसके पीछे मेरा दृष्टिकोण था, आपके जहाज जब इधर से आएंगे, मुझे सहज ही ज्ञात हो सकेगा। मैंने अपना नाम तब से विमलवाहन रखा।

अमरकुमार को अब यह ज्ञात हुआ कि विमल-वाहन उसकी पत्नी ही थी, जिसने उससे छः-सात घण्टे तक जूतों पर मर्दन करवाया था।

एक बार वेनातट में चोरों का उपद्रव हुआ। चोर बड़े कुशल थे। कोतवाल की पकड़ में नहीं आये। एक बार उन्होंने राज्य-भण्डार से जवाहरात और स्वर्ण की बड़ी चोरी की। साथ में उन्होंने राज-कुमारी का भी अपहरण कर लिया। प्रातःकाल राजा को ज्ञात हुआ, तो वह बहुत चिन्तित हुआ। राजा ने चोरों की खोज में अपने सैकड़ों दक्ष घुड़सवारों को भेजा।

किन्तु, लाभ नहीं हुआ। अन्ततः सेठ ने उस पंखे को खरीदा और उसका प्रयोग किया। दाह-ज्वर शान्त हो गया। सेठ ने वह पंखा राजा को भेंट किया। राजा ने व्याधि-हर और चामत्कारिक उस पंखे को देखकर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। उसने उसके निर्माता को याद किया। मैं राज-सभा में गई। राजा ने मुझे इच्छित वस्तु मांगने के लिए कहा। मैंने चिन्तनपूर्वक चुँगी-अधिकारी का पद मांगा। उसके पीछे मेरा दृष्टिकोण था, आपके जहाज जब इधर से आएंगे, मुझे सहज ही ज्ञात हो सकेगा। मैंने अपना नाम तब से विमलवाहन रखा।

अमरकुमार को अब यह ज्ञात हुआ कि विमल-वाहन उसकी पत्नी ही थी, जिसने उससे छः-सात घण्टे तक जूतों पर मर्दन करवाया था।

एक बार बेनातट में चोरों का उपद्रव हुआ। चोर बड़े कुशल थे। कोतवाल की पकड़ में नहीं आये। एक बार उन्होंने राज्य-भण्डार से जवाहरात और स्वर्ण की बड़ी चोरी की। साथ में उन्होंने राज-कुमारी का भी अपहरण कर लिया। प्रातःकाल राजा को ज्ञात हुआ, तो वह बहुत चिन्तित हुआ। राजा ने चोरों की खोज में अपने सैकड़ों दक्ष घुड़सवारों को भेजा।

उन्होंने जंगलों, पर्वतों और अन्य दुर्गम स्थानों को छान डाला, किन्तु कहीं भी उनका पता न चला। राजा ने उद्घोषणा करवाई—यदि कोई वीर योद्धा उन चोरों को राजकुमारी सहित मेरे समक्ष ले आये, तो मैं राजकुमारी का उसके साथ विवाह करूँगा और अपना आधा राज्य उसे दूंगा।

मैंने भी यह उद्घोषणा सुनी। उसी रात मैंने आकर्षणी विद्या की साधना की। सिद्धि प्राप्त होते ही चोर मेरे समक्ष उपस्थित हो गये। मैंने उन्हें हथकड़ियों से जकड़ लिया और राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा मेरे से पूर्व परिचित तो था ही; इस घटना से उसके मन में बहुत आत्मीयता जगी। उसने मुझे सहर्ष आधा राज्य दिया और राजकुमारी का मेरे साथ विवाह भी किया।

सागरकुमार सुरसुन्दरी की बातें सुनकर आह्लादित हुआ। उसने सुरसुन्दरी को धन्यवाद दिया और विनोद में पूछा—"तू ने यह विवाह कर लिया?"

सुरसुन्दरी ने अट्टहास के साथ कहा—"मैं इस अवसर को क्यों गंवाती? उसने अन्दर के कमरे में बैठी हुई एक राजबाला की ओर संकेत किया। राज-

बाला तत्काल बाहर आई और उसने अमरकुमार का अभिवादन किया। अमरकुमार अत्यन्त चकित हुआ। सुरसुन्दरी ने कहा—"पतिदेव ! छात्र-जीवन में मैंने जो कहा था, उसे अच्छी तरह प्रमाणित कर दिखाया है। सात कोड़ियों से राज्य ले लिया है और साथ में राजकुमारी भी। आप राजकुमारी के साथ विवाह करें और इस राज्य का संचालन करें।"

चिर वियोग के बाद होने वाला मिलन अत्यधिक सुख का निमित्त बनता है। अमरकुमार और सुरसुन्दरी दोनों हर्ष में आप्लावित हो गये। जब वह सारा वृत्त राजा को ज्ञात हुआ, तो उसे भी अतिशय प्रसन्नता हुई। उसने अपनी गुणमंजरी कन्या का अमरकुमार के साथ विधिवत् विवाह किया।

कुछ दिन वेनातट पर निवास कर अमरकुमार अपनी दोनों पत्नियों के साथ प्रचुर धन लेकर चला और चम्पा नगरी पहुंचा। अपने माता-पिता से मिला, राजा और रानी से मिला; सभी को अपूर्व सुख हुआ।

चम्पा नगरी में एक बार ज्ञान सम्पन्न मुनिवर पधारे। अमरकुमार सुरसुन्दरी और गुणमंजरी के साथ

उन्होंने जंगलों, पर्वतों और अन्य गुप्त स्थानों को छान डाला, किन्तु, कहीं भी उनका पता न चला। राजा ने उद्घोषणा करवाई—यदि कोई वीर योद्धा उन चोरों को राजकुमारी सहित मेरे समक्ष ले आये, तो मैं राजकुमारी का उसके साथ विवाह करूँगा और अपना आधा राज्य उसे दूंगा।

मैंने भी वह उद्घोषणा सुनी। उसी रात मैंने आकर्षणी विधि की साधना की। सिद्धि प्राप्त होते ही चोर मेरे समक्ष उपस्थित हो गये। मैंने उन्हें हथकड़ियों से जकड़ लिया और राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा मेरे से पूर्व परिचित तो था ही; इस घटना से उसके मन में बहुत आत्मीयता जगी। उसने मुझे सहर्ष आधा राज्य दिया और राजकुमारी का मेरे साथ विवाह भी किया।

अमरकुमार सुरसुन्दरी की बातें सुनकर आह्लादित हुआ। उसने सुरसुन्दरी को धन्यवाद दिया और विनोद में पूछा—"तू ने वह विवाह कर लिया ?"

सुरसुन्दरी ने अट्टहास के साथ कहा—"मैं इस अवसर को क्यों गंवाती ? उसने अन्दर के कमरे में बैठी हुई एक राजबाला की ओर संकेत किया। राज-

बाला तत्काल बाहर आई और उसने अमरकुमार का अभिवादन किया। अमरकुमार अत्यन्त चकित हुआ। सुरसुन्दरी ने कहा—"पतिदेव ! छात्र-जीवन में मैंने जो कहा था, उसे अच्छी तरह प्रमाणित कर दिखाया है। सात कोड़ियों से राज्य ले लिया है और साथ में राजकुमारी भी। आप राजकुमारी के साथ विवाह करें और इस राज्य का संचालन करें।"

चिर वियोग के बाद होने वाला मिलन अत्यधिक सुख का निमित्त बनता है। अमरकुमार और सुरसुन्दरी दोनों हर्ष में आप्लावित हो गये। जब वह सारा वृत्त राजा को ज्ञात हुआ, तो उसे भी अतिशय प्रसन्नता हुई। उसने अपनी गुणमंजरी कन्या का अमरकुमार के साथ विधिवत् विवाह किया।

कुछ दिन वेनातट पर निवास कर अमरकुमार अपनी दोनों पत्नियों के साथ प्रचुर धन लेकर चला और चम्पा नगरी पहुंचा। अपने माता-पिता से मिला, राजा और रानी से मिला; सभी को अपूर्व सुख हुआ।

चम्पा नगरी में एक बार ज्ञान सम्पन्न मुनिवर पधारे। अमरकुमार सुरसुन्दरी और गुणमंजरी के साथ

उपदेश सुनने गया। अर्द्ध धर्म को सुनकर तीनों को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर तीनों दीक्षित हुए और घोर तपश्चरण में लगे। आत्मा और कर्म के पार्थक्य का विभिन्न दृष्टियों से अनुभव किया और सिद्ध गति की ओर अग्रसर हुए।



: २ :

मदन-धनदेव

कुशस्थल नगर में मदन श्रेष्ठी रहता था। उसके दो पत्नियां थीं। एक का नाम चण्डा और दूसरी का नाम प्रचण्डा था। दोनों ही यथा नाम तथा गुण थीं। मदन दोनों पर समान प्रेम रखता था, पर, वे दोनों ही सामान्य से प्रसंग पर झगड़ पड़ती थीं। घर की शान्ति बिक गई। गृह-कलह से मदन का परेशान होना स्वाभाविक था। उसने उसके निराकरण के अनेक प्रयत्न किये, पर, सफलता नहीं मिली। मदन ने सोचा, दोनों को अलग-अलग गांवों में रखने से कलह नहीं हो पायेगा। जब वे परस्पर मिलेंगी ही नहीं तो झगड़ा कहां से होगा ? न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। उसने प्रचण्डा के लिए पास ही एक गांव में सारी व्यवस्था कर दी। स्वयं एक-एक दिन दोनों के पास रहने लगा।

कलहकारी हृदय को कभी भी नहीं परखता। वह तो अपने आदेश में ही सामने वाले को बांध कर

रखना चाहता है । उसमे यदि तनिक-सी भी त्रुटि हो जाती है, तो वह उस पर बरस पडता है । मदन एक बार किसी प्रयोजन से प्रचण्डा के घर अधिक रह गया। जब वह चण्डा के घर पहुँचा, तो उसका रोष भडक उठा । अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसने मदन की ओर मूसल फेंका । मदन वहा से भागा । थोड़ी दूर जाकर ज्यों ही उसने मुड़कर देखा, एक सर्प उसका पीछा कर रहा था । वह घबराता हुआ प्रचण्डा के घर पहुँचा। प्रचण्डा को जब घटना ज्ञात हुई, तो उसने पति को आश्वस्त किया और निर्भय रहने के लिए कहा । साप मदन का पीछा करता हुआ प्रचण्डा के घर पहुंच गया । प्रचण्डा ने अपने शरीर के मैल की गोलियां बनाकर सर्प की ओर फेंकी । वे नकुल बन गई और उन्होने सर्प के टुकडे-टुकड़े कर डाले । मदन के प्राण बचे, इसके लिए उसे प्रसन्नता थी, तो राक्षसी से घिर जाने पर वह कांपने भी लगा । उसका विचार उभरा, जो कठिनाई मुझे चण्डा के चंगुल से मुक्त होने के लिए विवश कर रही थी, वही कठिनाई यहा अधिक उग्र है । चण्डा की तरह यदि प्रचण्डा भी कभी कुपित हो गई, तो मेरे लिए कौन शरण होगा ? यही सुन्दर होगा, इन राक्षसियों से छुटकारा पा लिया

जाये ।

व्यक्ति का मन जब किसी के प्रति नफरत से भर जाता है, तो वह उसे छोड़कर भाग भी जाता है। मदन को प्रचण्डा के साथ रहने पर अपना भविष्य धुंधला प्रतीत हो रहा था; अतः एक दिन बहुत सारा धन लेकर गुप्त रूप से भाग निकला। बहुत दिनों तक वह चलता रहा। संकाश नगर के उद्यान में जाकर उसने विश्राम किया। अपने भविष्य के बारे में वह कुछ सोच ही रहा था कि भानुदत्त श्रेष्ठी वहां आ पहुँचा। मदन का स्वागत करते हुए उसने कहा—"हमारे घर चलो। हम तो तुम्हारी प्रतीक्षा में ही बैठे हैं।"

एक अनजान व्यक्ति से आतिथ्य का निमंत्रण पा कर के पैर कुछ-कुछ ठिठके। किन्तु, आग्रह के कारण वह चला आया। स्नान, भोजन आदि से निवृत्त होने पर बातचीत का दौर आरम्भ हुआ। भानुदत्त ने अपनी लावण्यवती पुत्री के साथ विवाह करने के लिए मदन से आग्रह किया। अज्ञात कुल और अज्ञात शील वाले के साथ इस प्रकार का प्रस्ताव प्रस्तुत होना सच-मुच ही एक आश्चर्यजनक घटना थी। वह कुछ समय गम्भीर बैठा हुआ उस रहस्य के प्रतर को खोलता

रहा। सेठ भानुदत्त ने उसके विचारों को भांप लिया। उसने कहा—"मेरे चार पुत्र और एक पुत्री है। पुत्री का नाम विद्युल्लता है। वह सभी कलाओं में निपुण है। जब वह वयस्क हो चुकी, उसकी विवाह की चिन्ता स्वाभाविक थी। कल रात्रि में कुलदेवी ने मुझे कहा—"चिन्ता मत करो। विद्युल्लता के भाग्य से खींचा हुआ मदन प्रातः तुम्हें उद्यान में मिलेगा। उसके साथ कन्या का विवाह कर अपने घर रख लेना।" देवी के आदेश से ही मैं तुम्हारे पास पहुंचा तथा तुम्हें लेकर यहां आया। मैं तुम्हारे लिए अपरिचित हूं, पर, तुम मेरे लिए अपरिचित नहीं हो; इसीलिए मैं अपनी कन्या का प्रस्ताव रख रहा हूं।"

अनजाने और अनचाहे जब विवाह का प्रस्ताव आया, तो मदन मुकर न सका। विद्युल्लता के साथ उसका पाणिग्रहण हो गया। भानुदत्त श्रेष्ठी द्वारा प्रदत्त दिव्य भवन में वह आनन्द पूर्वक रहने लगा।

प्रकृति कभी-कभी सुषुप्त संस्कारों एवं भावनाओं को उभारने में निमित्त बन जाती है। एक बार वर्षा ऋतु आई। आकाश काले-का[illegible] [illegible]से छा रहा था। ठण्डी-ठण्डी हवा च[illegible]

बूंदें भी गिरने लगती थीं। मदन अपने महल के गवाक्ष में बैठा था। एक विरहिणी स्त्री के करुण स्वर उसके कानों में पड़े। उसने सोचा, जिन महिलाओं का पति उनके पास में नहीं होता है, वे किस प्रकार से कल-पती हैं। मैं भी दो-दो स्त्रियों का परित्याग करके आया हूँ। इस ऋतु में उनका मानस कितना व्यथित होता होगा? नफरत ने अनुराग को बढ़ावा दिया। मदन की आंखें छलछला आईं। विद्युल्लता ने जब इस दृश्य को देखा, कारण जानना चाहा। मदन ने अपने हृदय को छुपाया नहीं। सही-सही बात कह डाली। विद्युल्लता ने अपने हृदय को छुपाते हुए मदन को आश्वस्त किया और कहा—"आप वहाँ जाकर उन्हें आश्वस्त क्यों नहीं करते? यह तो आपका कर्तव्य है?"

मदन ने सहज भाव में उत्तर दिया—"तुम्हारी अनुमति हो, तभी तो जा सकता हूँ।"

विद्युल्लता का मन ईर्ष्या से भर गया। फिर भी उसने शब्दों में शालीनता ही रखी। उसने कहा—"अभी तो वर्षा ऋतु है। चारों ओर नदी-नाले बह रहे हैं। कीचड़ के कारण मार्ग भी रुक गये हैं। शरद् ऋतु में जाना श्रेयस्कर रहेगा।"

मदन ने विद्युल्लता का सुझाव स्वीकार कर लिया। वर्षा ऋतु का समय पूरा हो गया। शरद् ऋतु आ गई। मदन के मन से चण्डा-प्रचण्डा का आकर्षण कम नहीं हुआ। उसने विद्युल्लता से जाने की अनुमति मांगी। सपत्नी के प्रति हार्दिक सहानुभूति रखने वाली महिलाएं चिराग लेकर खोजने पर भी नहीं मिल पातीं। विद्युल्लता ने सीधा निषेध तो नहीं किया, पर, उसे ऐसे चक्कर में डाला कि जाने के बावजूद भी पतंग की तरह खींचा हुआ वह उसकी ओर ही चला आए। विद्युल्लता ने पाथेय के लिए मंत्रों से भावित उसे करम्ब दिया। वह प्रसन्नतापूर्वक विदा हुआ। कुशस्थल पुर की ओर बढ़ा जा रहा था। मध्यान्ह में एक सरोवर के तट पर वह भोजन करने के लिए बैठा। एक जटाधारी तापस उधर से गुजरा। मदन के मन में श्रद्धा उमड़ी। उसने सन्यासी को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। संन्यासी भी भूखा ही था। उसने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। मदन ने भोजन परोसा और संन्यासी ने किया। भोजन करते-करते ही संन्यासी बकरा हो गया तथा बें-बें करता हुआ संकाश नगर की ओर चल पड़ा। मदन को इस घटना से बहुत आश्चर्य हुआ। वह भी उसके पीछे-पीछे चलने

लगा।

आश्चर्य अनेक आश्चर्यों का उद्‌घाटन करता है। बकरा विद्युल्लता के घर पहुँचा। मदन भी छुप कर उसके पीछे-पीछे चल रहा था। विद्युल्लता ने मदन को ही बकरे के रूप में समझा। उसने उसे निर्दयता पूर्वक पीटते हुए कहा—"दुष्ट! मुझ निरपराध को छोड़ कर तू उन दोनों अपराधिनी स्त्रियों के पास जाने को अकुला रहा था। चण्डा से बचकर प्रचण्डा के पास गया। प्रचण्डा से बचकर मेरे पास आया। मेरे से बचकर अब कहां जायेगा? उनके पास जाते हुए तुझे थोड़ा भी विचार नहीं आया? अब उसी का फल भोग।"

विद्युल्लता ने बकरे को इतना पीटा कि वह अधमरा हो गया। पड़ोसियों ने आकर उसे बचाया। विद्युल्लता ने मंत्र से भावित उसके ऊपर जल छिड़का। बकरा तत्काल संन्यासी हो गया। लोगों ने जब संन्यासी को देखा, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनकी ओर से प्रश्न आया, महाराज, आप इस चक्कर में कैसे फँस गये। संन्यासी ने सारी घटना सुनाई।' विद्युल्लता कांपने लगी। उसने सोचा, यदि कहीं संन्यासी कुपित हो गया, तो मुझे अब कहाँ ठौर

मिलेगी ? उसने संन्यासी के चरण पकड लिए और अपराध के लिए माफी मांगने लगी।

मदन पर इस घटना का बहुत असर हुआ। वह घर में नहीं गया। विरक्त होकर हसंतीपुर की ओर चल पडा। नगर के बाहर उद्यान में भगवान् आदिनाथ के मन्दिर में बैठ कर विश्राम करने लगा। भविष्य की अनिश्चितता उसके सामने थी। सहसा एक तरुण भी वहां आया। उसका नाम धनदेव था। मदन को उदास देखकर धनदेव ने उसका कारण पूछा। धनदेव को सहृदय एवं स्वधर्मी जानकर उसने आप बीती कह डाली। धनदेव उसे सुनकर हंसने लगा। उसने कहा—"मित्र ! इतनी-सी बात पर तुम उदास हो गए। मैं जितना दुःखी हूँ, उतनी तो सम्भवतः तुम कल्पना भी नहीं कर सकोगे।"

जब दो दुःखी मिल जाते है, तो एक-दूसरे में अपना हृदय उण्डेल कर अपने दिल को हल्का करते है। मदन द्वारा पूछे जाने पर धनदेव ने अपनी घटना सुनानी आरम्भ की। उसने कहा—"इसी नगर में धनपति श्रेष्ठी था। उसकी पत्नी का नाम लक्ष्मी था। धनसार तथा धनदेव नामक उसके दो पुत्र थे। सेठ ने

दोनों पुत्रों को कलाभ्यासी कर दो कुलीन कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया। सेठ के स्वर्गवासी होने पर दोनों भाई प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहने लगे। किन्तु, दोनों स्त्रियों में कलह रहने लगा। कलह ने जब उग्र रूप ले लिया, तो दोनों भाई प्रेमपूर्वक बंटवारा कर अलग-अलग हो गये। धनदेव को अपनी पत्नी से बड़ा असन्तोष था। वह उसे बहुत परेशान कर देती थी। धनसार ने उसका दूसरी कन्या के साथ विवाह कर दिया। धनसार की पूर्व पत्नी ने बदला लेने की भावना से कुछ ही दिनों में नव परिणीता के साथ मेल-जोल बढ़ा लिया और उसे भी अपनी प्रकृति के अनुरूप बना लिया। वह भी स्वेच्छाचारिणी हो गई। धनदेव के कुछ दिन तो आनन्द में बीते, किन्तु, बाद में वह दोनों से ही बहुत परेशान रहने लगा।

किसी व्यक्ति को जब अधिक परेशान कर दिया जाता है, तो वह साम ने वाले के छल-छिद्र देखने में संलग्न हो जाता है। उसके माध्यम से वह उसे जीतना चाहता है। धनदेव दोनों पत्नियों का चरित्र जानने के उद्देश्य से एक दिन ज्वर का बहाना बनाकर कपट निद्रा से लेट गया। कुछ ही समय बाद उसकी नासिका बजने

लगी। दोनों ने ही जाना, यह तो घोर निद्रा में सो गया है। दोनों ही कहीं चलने के लिए शीघ्र तैयारी करने लगीं। कुछ ही क्षणों में वे आम्र-वृक्ष पर जा चढ़ी। धनदेव भी अवसर पाकर वृक्ष के कोटर में छुप कर बैठ गया। मंत्र-बल से उड़ती हुई वे रत्न द्वीप के रत्नपुर नगर में जाकर उतरीं। वे वहां निर्भय घूमने लगीं। धनदेव भी उनके पीछे-पीछे हो गया।

जीवन में किस समय क्या घटित होगा, यह बहुधा व्यक्ति को ज्ञात नहीं होता है। उसी नगर में श्रीपुंज सेठ के चार पुत्रों पर श्रीमती नामक एक कन्या थी। कन्या का उसी दिन विवाह था। वसुदत्त सार्थवाह का पुत्र जब तोरण पर आया, तो जनता की भीड़ से तोरण-स्तम्भ गिर पड़ा। वर की वहीं मृत्यु हो गई। सेठ श्रीपुंज के समक्ष जटिल पहेली उपस्थित हो गई। यदि उस लग्न में कन्या का विवाह नहीं होता है, तो जनता में कन्या के दुर्भाग्य की बात प्रसारित हो जाने का भय था। फिर विवाह होना अत्यधिक कठिन हो जायेगा। चारों ओर दौड़-धूप की गई। सेठ के कुछ विश्वस्त साथी शहर में घूम रहे थे। धनदेव उनकी नजर में चढ़ गया। वह सुन्दर और तरुण था। वे उसे

सेठ श्रीपुंज के पास ले आये। सेठ को भी वह उपयुक्त लगा। सेठ की प्रार्थना को धनदेव ने नहीं ठुकराया। दोनों उसी समय प्रणय-सूत्र में आबद्ध हो गये। दोनों स्त्रियाँ भी घूमती हुईं, उसी मण्डप में पहुंच गईं। दोनों को भी वह जोड़ी अच्छी लगी। गौर से देखने पर छोटी स्त्री ने कहा— "बहिन! यह वर तो अपने पति जैसा ही लगता है। कहीं वही तो नहीं है?"

बड़ी स्त्री ने प्रतिवाद करते हुए कहा—"समान आकृति वाले व्यक्ति बहुत होते हैं। हम तो उसे घर पर ज्वर-पीड़ित अवस्था में छोड़कर आई हैं। वह यहाँ आ कैसे सकता है?"

विवाह-विधि जब सानन्द सम्पन्न हो गई। धनदेव किसी बहाने से श्वसुर-गृह से निकल आया। दोनों स्त्रियों के पहुंचने से पूर्व ही वह आम्र-वृक्ष के कोटर में छुपकर बैठ गया। कुछ देर बाद वे भी लौट आईं। मंत्र-बल से पुनः वृक्ष वहाँ से उड़ा और घर के प्राँगण में आकर उतरा। धनदेव चतुरता से निकल कर अपनी शय्या में लेट गया। दोनों को कुछ भी पता नहीं चल पाया। वे भी दोनों लेट गईं।

वास्तविकता को बहुत समय तक ओझल नहीं

किया जा सकता। प्रातः घर का काम करते हुए छोटी पत्नी ने धनदेव के हाथ पर कंकण बंधा देखा। उसे अपना रात्रि का अनुमान सही लगा। बड़ी से इसकी शिकायत की। उसकी त्यौरियां चढ़ गई। वह कुन-मुनाती हुई बोली— इसका मजा भी इसे अभी चखाती हूँ। उसने एक धागे को मंत्रित किया और अवसर पाकर धनदेव के पैर में बाँध दिया। धनदेव मनुष्य से शुक हो गया।

मनुष्य से पक्षी बन जाने पर प्रत्येक को दुःख स्वाभाविक है। वह भी वेदना से पीडित इधर-उधर उड़ रहा था। बड़ी पत्नी ने व्यंग कसते हुए कहा— "मूर्ख! शीत ज्वर का बहाना बनाकर हमारे पीछे घूमता है? अब उसी के फल चख। तुझे यह पता होना चाहिए कि मेरे से टकराने पर तुझे क्या मिल सकता है?" उसने शुक को पकड़ा और पिंजरे में बन्द कर दिया। जो थोड़ी स्वतन्त्रता थी, वह भी छिन गई।

छोटी पत्नी ने बड़ी पत्नी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। धनदेव पिंजड़े मे पड़ा हुआ दुःख के दिन काट रहा था। दोनों ही पत्नियां जब खाना बनातीं, पिंजरे को रसोई में रखती। जब शाक में छोंक देती,

शुक कोकटार दिखा कर कहतीं—"दुष्ट ! देखता क्या है ? तुझे भी मार कर हम इसी तरह छौंक देंगी।"

रत्नपुर में यह खोज होने लगी कि श्रीमती के साथ विवाह कर उसका पति कहाँ गायब हो गया ? चारों ओर आदमी दौड़े, पर उसका कहीं भी पता नहीं चला। प्रातःकाल श्रीमती को एक श्लोक मिला, जिसमें लिखा गया था, हसंतीपुर के सेठ धनपति के पुत्र धनदेव के साथ श्रीमती का विवाह-संस्कार हुआ है। श्रीमती ने सेठ श्रीपुंज को इसकी सूचना दी। सेठ धनपति ने सोचा, जामाता को चातुरी से अपने घर बुलाना चाहिए। वह योजना बनाने में संलग्न हो गया।

सेठ सागरदत्त व्यापार के लिए हसंतीपुर की ओर जाने के लिए प्रस्तुत हुआ। सेठ श्रीपुंज ने इसे उपयुक्त अवसर समझा। उसने सागरदत्त के साथ एक विशेष रत्नालंकार भेजा और सन्देश कहलवाया, रत्नपुर आकर श्रीमती को अपने साथ ले जायें। सागरदत्त समुद्र लाँघकर हसंतीपुर आया। धनदेव को घर पर न पाकर उसने दोनों पत्नियों से पूछा। उन्होंने उत्तर दिया—"व्यापार के लिए वे विदेश गये हैं।"

सागरदत्त ने कहा—"रत्नपुर के सेठ श्रीपुंज ने अलंकार भेजा है और उन्हें अपने यहाँ शीघ्र बुलाया है।"

दोनों ही स्त्रियों ने अपनी बुद्धिमानी का परिचय देते हुए कहा—"हमारे पतिदेव रत्नपुर जाने के लिए स्वयं उत्सुक थे, पर, विशेष प्रयोजन वश उन्हें विदेश जाना पडा। वे कह गये है, रत्नपुर से कोई वस्तु आये तो रख लेना तथा मेरी प्रिया के लिए आगन्तुक के साथ इस शुक को भेज देना।"

सागरदत्त धूर्ताओ की बात समझ न सका। उसने अलंकार दे दिया तथा शुक ले लिया। रत्नपुर जाकर सेठ श्रीपुंज से सारी बात कहकर शुक को सौंप दिया। श्रीमती शुक को पाकर बहुत सन्तुष्ट हुई। वह उसके साथ क्रीड़ा करती हुई अपने समय का निर्गमन करने लगी।

दुःख की अवधि जब समाप्त होने को होती है, तो कुछ विशेष निमित्त बन जाते है। श्रीमती एक दिन शुक के साथ क्रीड़ा कर रही थी। पैर में बंधे धागे की ओर उसकी दृष्टि केन्द्रित हुई। उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। कुछ क्षण सोचकर उसने उस धागे को तोड़ डाला। शुक धनदेव के रूप में प्रकट हो गया।

श्रीमती उस दृश्य को देखते ही चकित रह गई। वह समझ नहीं पाई कि यह सत्य है या स्वप्न ? विस्मित-सी वह धनदेव की ओर देखने लगी। धनदेव ने कहा—"तुम जो भी देख रही हो, सही है। यह क्यों हुआ, इसे अभी पूछने की आवश्यकता नहीं है। जब समय आएगा, स्वतः रहस्य खुल जायेगा।"

धनदेव के अप्रत्याशित रूप से प्रकट होने पर सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। धनदेव ससुराल में ही रहने लगा। श्रीपुंज का कुछ वर्षों बाद स्वर्गवास हो गया। श्रीमती के प्रति भाइयों के स्नेह की न्यूनता हो गई। श्रीमती पीहर से ससुराल चलने के लिए धनदेव से आग्रह करने लगी। धनदेव उस प्रसंग को टालता रहा। श्रीमती का जब अत्यन्त आग्रह देखा, तो सारी घटना सुनाते हुए उसने कहा—"छोंकने की वह बात जब मुझे याद आती है, मैं सिहर उठता हूँ।" श्रीमती ने स्वाभिमान के साथ कहा—"आप इसकी चिन्ता न करें। इस दुरभिसन्धि का प्रतिकार मेरे पास है। मेरे समक्ष उनकी एक भी नहीं चल सकेगी।"

श्रीमती द्वारा पुनः-पुनः प्रोत्साहित किये जाने पर धनदेव घर आया। पति को प्रकृत रूप में देखकर दोनों

ही पत्नियां कृत्रिम हर्ष प्रकट करते हुए स्वागत करने लगी। बड़ी के निर्देश पर छोटी धनदेव के पैर धोने लगी। बड़ी का आक्रोश शान्त नहीं हुआ था; अतः उसने उस ताम्र-पात्र से थोड़ा-सा जल लेकर भूमि पर छिड़क दिया। चारों ओर से पानी की बाढ़ आ गई। धनदेव ने श्रीमती की ओर देखा। श्रीमती ने केवल यही संकेत किया—आप निर्भय रहें। मैं अपने-आप निबट लूंगी। पानी बढ़ता हुआ धनदेव के गले और नासिका तक आ गया। श्रीमती से उसने कहा—"अब तो डूब रहा हूं बचाओ।"

श्रीमती भी मंत्र-विद्या में निष्णात थी। उसने मंत्र-बल से सारे जल का पान कर लिया। दोनों ही पत्नियों पर इस चमत्कार की गहरी छाप पड़ी। वे दोनों श्रीमती के चरणों में गिर पड़ीं और उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। दोनों ने कुछ तौर-तरीका भी बदला। पति-सेवा में मग्न रहती हुई श्रीमती से प्रीति बढ़ाने लगीं। संगत का प्रभाव अवश्य पड़ता है। श्रीमती दोनों को प्रभावित नहीं कर सकी, पर, दोनों की प्रकृति से वह प्रभावित हो गई। वह भी उनकी तरह ही स्वेच्छाचारिणी हो गई। धनदेव अकेला हो गया। उन तीनों का गुट बन गया। धन-

धनदेव तीनों से विरक्त होकर घर से निकल भागा।

अपनी बात को मोड़ देते हुए धनदेव ने कहा—"अब तुम्हीं बताओ अधिक दुःखी तुम हो या मैं? पक्षी के रूप में मेरा रहना किसी प्रकार से दुःख में न्यून नहीं था।"

परिवार से उद्विग्न तथा पत्नियों से पीड़ित दोनों वहां बैठे एक-दूसरे का लेखा-जोखा प्राप्त कर रहे थे। उनके सुकृत का उदय कुछ समीप आया। आचार्य विमलबाहु का अचानक वहाँ पधारना हुआ। उनके उपदेश से प्रेरित होकर दोनों दीक्षित हुए। नाना प्रकार से तपश्चरण करते हुए आराधक होकर वे सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए।

देव-भव पूर्णकर मदन का जीव विजयपुर नगर में समरसेन राजा की विजयावती रानी की कुक्षी से मणिप्रभ नामक कुमार हुआ। मणिप्रभ बड़ा हुआ और राज्य-सिंहासन पर बैठा। बहुत वर्षों तक राज्य का सुचारु संचालन किया। कमलवन को मुरझाया हुआ देखकर वह विरक्त हुआ और जिनेश्वर सूरि के पास दीक्षित हो गया। मणिप्रभ राजर्षि अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी लब्धि से सम्पन्न



परिवार से उद्विग्न तथा पत्नियों से पीड़ित दोनों वहां बैठे एक-दूसरे का लेखा-जोखा प्राप्त कर रहे थे।

हुआ।

धनदेव का जीव वैताढ्य पर्वत पर रथनूपुर चक्रवाल नगर में विद्याधरों का चक्रवर्ती महेन्द्रसिंह हुआ। उसकी पटरानी का नाम रत्नमाला और पुत्रों का नाम रत्नचूड़ व मणिचूड़ था। रत्नमाला की महा व्याधि से मृत्यु हो गई। मोहाभिभूत महेन्द्रसिंह उसके पीछे शिथिल-सा हो गया। अवधिज्ञानी मणिप्रभ राजर्षि ने जब यह ज्ञात किया, तो पूर्व भव के स्नेहवश उसे प्रतिबोध देने के लिए आकाश-मार्ग से वे रथनूपुर आये। महेन्द्रसिंह पर्युपासना करने के लिए आया। उसे मोह-भावना से विलग करना सुगम नहीं था। किन्तु, राजर्षि मणिप्रभ ने संसार-स्वरूप की विशद व्याख्या की। महेन्द्रसिंह का मन कुछ-कुछ शान्त हुआ। जब-जब वह राजर्षिप्रवर की ओर देखता, उसके मन में स्नेह जागृत होता और उसके समक्ष रत्नमाला का विरह हल्का हो जाता है। राजर्षि के समक्ष महेन्द्रसिंह ने तत्सम्बन्धी जिज्ञासा प्रस्तुत की। राजर्षि ने पूर्व-भव-सम्बन्धी मदन और धनदेव की घटनाओं पर प्रकाश डाला तथा तीनों स्त्रियों के चरित्र का भी उद्घाटन किया। महेन्द्रसिंह का रत्नमाला के प्रति रहा हुआ मोह-भाव जाता रहा। उसने रत्नचूड़ को राज्य-भार

सौंप कर दीक्षा ग्रहण कर ली। उग्र तपश्चरण करते हुए दोनों ही मुनिवर विशेष लब्धियों से सम्पन्न हुए। धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान के माध्यम से केवल ज्ञान प्राप्त कर दोनों ही मोक्षगामी हुए।



: ३ :

ललितांग कुमार

श्रीवास नामक एक विशाल नगर था। वहाँ के राजा का नाम नरवाहन था। उसके एक ही पुत्र था, जिसे ललितांग कुमार के नाम से पुकारा जाता था। राजा का उस पर अत्यन्त प्रेम व वात्सल्य था। उसे अच्छी तरह पढ़ाकर प्रवीण किया गया।

ललितांग कुमार बचपन से ही संस्कारी था। धार्मिक प्रवृत्तियों में विशेष रस लेता था; अतः वह बहुत कारुणिक था। किसी व्यक्ति को दुःखित देखते ही उसका हृदय भर आता था। अपने पास जो कुछ होता, वह दीन-दुःखियों में बांट देता था। शहर के अभावग्रस्त व्यक्ति काफी संख्या में उसके पास आते थे। वह किसी को अपने यहाँ से खाली हाथ नहीं लौटने देता था।

कुमार का एक घनिष्ट मित्र था, जिसका नाम सज्जन था। उसकी प्रकृति नाम से सर्वथा प्रतिकूल थी। किसी भी व्यक्ति की वह प्रगति नहीं देख सकता

था। ईर्ष्या व प्रतिशोध की आग उसके हृदय में भभका करती थी। वह 'विपकुम्भं पयोमुखा:' उक्ति को चरितार्थ करता था। ललितांग के साथ भी वह ऊपर से घनिष्ठ मैत्री रखता था, किन्तु, अन्तर्मन से वह उसकी जड़े खोदा करता था। ललितांग दीन-दुःखी व्यक्तियों को जो सहायता करता था, उससे भी वह बहुत चिढ़ता था और राजा को समय-समय पर उसके विरोध में भड़काता रहता था। एक बार कुमार का जन्म-दिवस आया। उस उपलक्ष्य मे राज-सभा में विशेष उत्सव किया गया। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक एक बहुमूल्य रत्न-जटित हार कुमार को दिया। कुमार ने प्रमुदित होकर उसे पहना। वह अपने महल की ओर जा रहा था। महल के पास ही उसे बिलखता हुआ एक भिखारी मिला। कुमार को देखते ही वह खिल उठा। दयार्द्र होकर उसने अपना वह बहुमूल्य हार उसे दे दिया। मुदित भिखारी कुमार को दुआएं देता हुआ चला गया। सज्जन ने जब यह घटना देखी, तो उसकी आँखों में जहर बरसने लगा। कुमार को अप-मानित करने के निश्चय से वह राजा के पास आया और बढ़ा-चढ़ा कर वह सारी घटना सुना डाली। राजा भी कुमार पर कुपित हुआ। उसने कुमार को

बुलाया और कड़ा उलाहना देते हुए कहा—"पुत्र ! दान की भी कोई सीमा होती है। इस प्रकार यदि तू दान देता रहा, तो एक दिन सारा भण्डार लुटा देगा। तुझे ज्ञात होना चाहिए, हमें एक बड़े राज्य का संचालन करना है और वह बिना धन के सम्भव नहीं है। भविष्य में तुझे सावधान रहना है। सीमा में ही सब कार्य अच्छे होते हैं। मुझे विश्वास है, तू इस आदेश का उल्लंघन नहीं करेगा।"

ललितांग के हृदय को ठेस पहुंची, किन्तु, पिता का आदेश उसने स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन जितने भी याचक आये, उसने सबको दान नहीं दिया। आधे व्यक्तियों को दिया। बचे हुए व्यक्तियों ने कुमार के इस व्यवहार की निन्दा की। कुमार ने इस कड़वी घूंट को आँख मींच कर पिया। प्रतिदिन ऐसा ही होने लगा। कुमार की निन्दा सुनकर सज्जन को प्रसन्नता होती।

याचकों के साथ एक बार एक वाचाल भिक्षुक भी आया। उसे दान नहीं मिला। खाली हाथ लौटना उसके लिए भारी हो गया। उसने अपनी वाचालता में कहा—"कुमार ! तू पारसमणि है और तेरी यह कृपणता ? दोनों का मेल कैसे होगा ? अपनी उदारता

को तिलांजलि मत दे। ऐसा करने से लक्ष्मी बढ़ेगी नही, अपितु यश के साथ वह घटेगी ही। तेरे द्वार पर आने वाला कभी कोरे हाथ नही लौटा। अब दान-वीरता से पीछे हटना तेरे लिए उचित नही है।"

वाचाल याचक के कथन ने कुमार के हृदय को भेद डाला। उसने पहले की तरह ही दान देना आरम्भ कर दिया। याचको में पुनः उसकी अतिशय प्रशंसा होने लगी। सज्जन को जब यह ज्ञात हुआ, ईर्ष्या से जलने लगा। वह उसी समय राजा के पास आया और बोला—"राजन्! आपके आदेश की अवहेलना कर ललितांग पुनः उसी तरह दान देने लगा है। भण्डार खाली होने लगा है। आप ध्यान दे।"

राजा अत्यधिक कुपित हुआ। उसने कुमार को बुलाया और ललकार के साथ कहा—"मेरे आदेश की तू अवहेलना करने लगा? तेरा यह कैसा दुःसाहस? मै इसे सहन नहीं करूँगा। मै तुझे आज कठोरता से आदेश देता हूँ, कल सूर्योदय से पूर्व ही तुझे मेरा यह शहर छोड़कर चले जाना है। यदि तू सुखपूर्वक यहाँ रहना चाहता है, तो कल से किसी को भी दान नहीं दे सकेगा।"

विचार-मग्न कुमार अपने महल में आया। दोनों

प्रस्तावों के बीच वह झूलता रहा। मस्तिष्क में अनेक विचार आए, किन्तु, कष्टों के भय से राजा के आदेश को स्वीकार करना उसे उचित नहीं लगा। उसने दृढ़ता के साथ निश्चय किया—"जंगलों की खाक छानना, दर-दर भटकना व कष्टों को झेलना स्वीकार है, किन्तु, इस कार्य से तो पराङ्मुख न होऊँगा। अलंकार-गृह से कुछ आभूषण लिए, पाथेय लिया और घोड़े पर सवार होकर सूर्योदय से पूर्व ही शहर छोड़कर चला गया।

राजा के कठोर आदेश का सज्जन को पता लग गया था। उसे विश्वास था, ललितांग नगर छोड़ देगा, किन्तु, अपने विचारों पर अडिग रहेगा। वह सूर्योदय से बहुत पहले ही मार्गवर्ती एक बगीचे में आकर छुप गया। ज्यों ही कुमार उस ओर से आगे बढ़ा, वह भी उसके पीछे-पीछे हो लिया। ललितांग बढ़ता ही जा रहा था। एक सरोवर पर उसने विश्राम लिया। सज्जन भी वहाँ पहुंच गया। उसे देखते ही कुमार ने साश्चर्य पूछा—"मित्र ! तू यहाँ कैसे ?"

सज्जन ने कृत्रिम आत्मीयता के साथ कहा—"जब यह ज्ञात हुआ, महाराजा ने तुझे देशाटन का आदेश दिया है, मेरे से रहा न गया। तेरे सहयोग के लिए मैं

पीछे-पीछे यहाँ तक आया हूँ।"

ललितांग ने सस्नेह कहा—"मित्र ! तू ने अच्छा किया। दोनों साथ रहेगे तो यात्रा का बहुत आनन्द आयेगा। उसने अपना पाथेय सज्जन के सामने रखा और भोजन करने का आग्रह किया। दोनों ही ने साथ बैठकर खाना खाया, सरोवर का स्वच्छ और ठण्डा पानी पिया और आगे चल पड़े। कुमार ने कहा—"मित्र ! कोई बात छेड़ो, जिससे मार्ग सुगमता से कटता जाए।"

सज्जन ने प्रश्न किया—"मित्रवर ! धर्म की जय होती है या अधर्म की ?"

ललितांग ने कहा—"यह भी कोई प्रश्न है ? इस विषय में तो सभी एकमत है—धर्म की ही जय होती है।"

सज्जन ने उसका प्रतिवाद किया—"मित्र ! यह तो वास्तविकता से दूर है। धर्म की जय नहीं होती, अधर्म की ही होती है। तुम्हारे सामने तो प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि तू अपना धर्म छोड़ देता, तो तुझे इस विकट अरण्य में क्यों भटकना पड़ता ?"

ललितांग ने कहा—"यदि धर्म दिल में होता, तो पिताजी मुझे यह आदेश दे भी नहीं सकते।"

दोनों में अच्छा विवाद हो गया। ललितांग ने कहा—"किसी तीसरे व्यक्ति से इसका निर्णय करवाया जाये।" सज्जन ने कहा—"यह ठीक है, किन्तु, एक शर्त है; यदि मेरा कथन असत्य हो, तो मैं जीवन-भर तुम्हारा दास रहूँ और यदि तुम्हारा कथन असत्य हो, तो यह घोड़ा व आभूषण मुझे मिले।" ललितांग ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनों आगे चले। थोड़ी दूर चलने पर उन्हें एक वृद्ध मिला। ललितांग ने उसे अनुभवी समझकर उपरोक्त प्रश्न दुहराया—"महानुभाव! धर्म की जय होती है या अधर्म की?"

वृद्ध ने निःश्वास छोड़ा और कहा—"भाई समय ऐसा आ गया है कि अधर्म की जय हो रही है और धर्म का क्षय। अधर्मी गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और धार्मिक दुःख से कलप रहे हैं।"

सज्जन बांसों उछलने लगा। ललितांग चिन्तन में उलझ गया। सज्जन ने तत्काल कहा—"मेरा कथन सत्य निकला। शर्त के अनुसार अपना घोड़ा और आभूषण मुझे सम्भलाओ।"

ललितांग अपने वचन का पक्का था। उसने घोड़ा और आभूषण उसे सौंप दिये। दोनों आगे चले जा रहे

पीछे-पीछे यहाँ तक आया हूँ।"

ललितांग ने सस्नेह कहा—"मित्र ! तू ने अच्छा किया। दोनों साथ रहेंगे तो यात्रा का बहुत आनन्द आयेगा। उसने अपना पाथेय सज्जन के सामने रखा और भोजन करने का आग्रह किया। दोनों ही ने साथ बैठकर खाना खाया, सरोवर का स्वच्छ और ठण्डा पानी पिया और आगे चल पड़े। कुमार ने कहा "मित्र ! कोई बात छेड़ो, जिससे मार्ग सुगमता कटता जाए।"

सज्जन ने उसकी हँसी उड़ाते हुए कहा—"मित्र ! तेरी इस मान्यता को शतशः साधुवाद ! शर्त के अनुसार अपने कथन को निभाओ ।"

ललितांग ने सहर्ष कहा—"हां, मित्र ! तू मेरी आंखों का अधिकारी है। सम्मुखीन वट के नीचे चलो। मैं तुझे अपनी आंखें दूंगा। तनिक भी झिझक नहीं करूंगा।"

दोनों मित्र वट के नीचे आए। सज्जन फूला नहीं समा रहा था। ललितांग की आँखें पाने के क्षण की वह व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहा था। अपने घनिष्ट मित्र के प्रति उसके मन में तनिक भी करुणा नहीं उमड़ी। ललितांग ने वनदेव और देवियों को सम्बोधित करते हुए कहा—"मैं इस अभिमत पर अडिग हूँ कि धर्म की ही जय होती है, अधर्म की नहीं। धर्म मानव-मात्र का रक्षक है। मुझे धर्म की शरण है।" उसने नवकार मंत्र का स्मरण किया और दोनों आँखें सज्जन के हाथ में रख दीं। सज्जन ने उन्हें सहर्ष ले लिया। उसे संकोच या घृणा नहीं हुई। घोड़े पर सवार होकर और आभूषण लेकर वह वहाँ से चल दिया। ललितांग वट के नीचे अकेला लेटा रहा। आँखों में अपार वेदना थी, किन्तु, वह महामंत्र नवकार

का तन्मयता से जाप कर रहा था।

सूरज प्रतीची में पहुँच गया। संध्या के साये में संसार सिमिटने लगा। पशु जंगल से गाँवों की ओर बढ़ गये। पक्षी अपने-अपने घोंसलों में लौट आये। रात हो गई। चर-अचर सभी पदार्थों को गहराते अन्धेरे ने लील लिया। ललितांग के लिए तो पहले ही रात हो चुकी थी। वह जिस वट के नीचे लेट रहा था, उसके ऊपर कुछ भारण्ड पक्षी आकर बैठे। वे परस्पर बातें करने लगे। ललितांग पक्षियों की भाषा जानता था; अतः वह सुनने में लीन हो गया। एक भारण्ड पक्षी ने कहा—"यहाँ से पूर्व दिशा में चम्पानगरी है। वहाँ के राजा जितशत्रु के पुष्पावती नामक एक सुकुमार कन्या है। राजा का उस पर बहुत वात्सल्य है, किन्तु, कर्मयोग से वह अंधी हो गई है। राजा को इससे बहुत दुःख हुआ है। उसने बड़े-बड़े चिकित्सकों से उसका उपचार करवाया, किन्तु, लाभ नहीं हुआ। विवश होकर राजा ने यह उद्घोषणा करवाई है; जिस व्यक्ति के उपचार से राजकुमारी के नेत्र ज्योतिर्मय हो जायेंगे, उसे पारितोषिक के रूप में आधा राज्य दिया जायेगा और पुष्पावती कन्या के साथ उसका विवाह किया जायेगा।"

दूसरे भारण्ड पक्षी ने प्रश्न किया—"कन्या को क्या ज्योति-दान मिल सकता है ? कोई सम्भव मार्ग है ?"

पहले ने उत्तर दिया—"हां, सम्भव है। उपाय भी बहुत सरल और सहज है। इसके ज्ञाता नहीं रहे। इस वट-वृक्ष के चारों ओर छाई हुई इस लता के रस में अपनी विष्ठा का सम्मिश्रण करके यदि उसकी आँख पर लगाया जाये, तो शीघ्र ही उसके नेत्रों में ज्योति निखर सकती है।"

भारण्ड पक्षियों के उस वार्तालाप ने ललितांग को उद्बुद्ध कर दिया। उसने सोचा, क्यों न इस औषधि का पहले अपने पर ही प्रयोग करूँ ? यदि यह प्रयोग अचूक निकला, तो फिर राजकुमारी पर भी किया जा सकता है। वह तत्काल उठा। उसने वट के तने की ओर ज्यों ही हाथ बढ़ाया, लता हाथ में आ गई। विष्ठा भी वहां बहुत पड़ा था। उसने उसे रस में भावित किया, आँखों पर लगाया तो तत्काल उसकी वह व्याधि दूर हो गई, आंखें स्वस्थ हो गईं और ज्योति लौट आई। अपने सुकृत के उदय की वह पुनः-पुनः प्रशंसा करने लगा। धर्म का कभी क्षय नहीं होता, ये विचार उसके और सुदृढ़ हो गये। कुछ लता व विष्ठा अपने थैले में भरा और चम्पानगरी की ओर चल दिया।

राजा इस प्रतीक्षा में था कि कोई सिद्ध पुरुष आये और राजकुमारी पर वह अनुग्रह करे। ललितांग ने राजा की घोषणा को स्वीकार किया और राजमहलों में आया। दोनों पदार्थों को परस्पर भावित कर ज्यों ही कन्या की आँखों पर लेपन किया गया, ज्योति लौट आई। राजा जितशत्रु को परम प्रसन्नता हुई। राजा ने ललितांग को अपना आधा राज्य दिया और पुष्पावती का उसके साथ धूमधाम से विवाह किया। ललितांग चम्पानगरी के भव्य महलों में सुखपूर्वक रहने लगा।

सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता ही है। दोनों के ही पृथक्-पृथक् निमित्त होते हैं। ललितांग एक दिन अपने महल के गवाक्ष में बैठा था। भिखारी के वेश में घूमते हुए सज्जन को उसने देखा। उसे आश्चर्य हुआ और उसके प्रति ममत्व उमड़ आया। अनुचरों को संकेत कर उसे अपने पास बुलाया। चम्पानगरी के भव्य महल में ललितांग को सनेत्र सुखासीन देखकर सज्जन अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने सर्वप्रथम यही पूछा—"बन्धुवर ! तुम यहाँ कैसे ?" ललितांग ने अपना वृत्त सुनाया और पूछा—"मित्र ! तू इस वेश में कैसे भटक रहा है ? तेरे पास मेरा दिया हुआ धन

भी तो बहुत था ?"

सज्जन की आँखें डबडबा आईं और बोला—"मित्र मेरे दुर्भाग्य की कहानी मत पूछो। मैं बड़ा दुर्भागी हूं। तुझे भयंकर दुःखित कर घोड़े पर सवार होकर जैसे ही मैं चला, जंगल में चोरों ने मुझे घेर लिया। सारा माल व घोड़ा छीन लिया। उन्होंने मुझे बुरी तरह पीटा। मेरे पास कुछ भी नहीं बचा। दर-दर की ठोकरें खाता हूँ। भीख में जो भी मिल जाता है, उससे पेट भरता हूँ। बहुत सारे नगरों और देहातों में घूमता हुआ यहाँ पहुँचा हूँ। मित्र! मैंने तुझे बहुत दुःख दिया था, मुझे क्षमा करना।"

ललितांग का मन करुणा से भर आया। उसने कहा—"मित्र! तू चिन्ता मत कर। मेरे पास आनन्द-पूर्वक रह। किन्तु, अब तुझे अपनी प्रवृत्तियों में परि-वर्तन करना चाहिए।" सज्जन ने उसे स्वीकार किया। कुछ दिन तक वह अच्छी तरह रहा। किन्तु, उसकी दुर्जनता समाप्त नहीं हुई। ज्यों ही उसकी स्थिति सुधरी, राजा के पास आना-जाना आरम्भ हुआ, उसने अपने कुचक्र चलाने भी आरम्भ कर दिये। एक दिन राजा ने सज्जन से अपने दामाद के वंश व देश के बारे में पूछा। सज्जन का मन कुटिलता से भर गया।

उसने कहा—"मै श्रीवास शहर के राजा नरवाहन का पुत्र हूँ। तुम्हारा दामाद भी उसी नगर का निवासी है, किन्तु, कुलीन नही है। देखने में ही सुरूप है, किन्तु, परिगणित जाति का है। इसे कोई एक सिद्ध पुरुष मिला था। उसने अनुग्रहपूर्वक विद्या दी। उसकी बदौलत इसने आपकी कन्या का रोग शान्त किया है। आपको अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राजकुमारी का पाणि-ग्रहण इसके साथ करना पड़ा। मेरा अपने परिवार के साथ कलह रहता था; अतः घूमता-फिरता यहां आया हूँ। इसने मुझे देखकर पहचान लिया। मैं इसकी जाति के बारे में किसी को कुछ न कहूँ, अतः यह मुझे अपने पास रखता है।"

राजा ने सज्जन को विदा किया। दामाद परिगणित जाति का है, यह जानकर वह खौलने लगा। ऐसा दामाद मुझे नही चाहिए; यह सोचकर उसने एक गुप्त योजना बनाई। अपने दो विश्वासी व्यक्तियों को बुलाया और कहा—आज रात को ठीक दस बजे ललितांग के महल से जो भी व्यक्ति बाहर आये, तुम उसकी हत्या कर देना। दूसरी ओर सायकाल उसने ललितांग के नाम एक पत्र लिखकर ठीक दस बजे अत्यावश्यक कार्य से उसे अपने महलों में बुलाया। दस

बजने में जब कुछ क्षण ही अवशिष्ट थे, ललितांग जाने की तैयारी करने लगा। घोर अन्धेरी रात थी। पुष्पावती ने साश्चर्य पूछा—"पतिदेव ! इस समय कहाँ जाने की तैयारी हो रही है ?"

ललितांग—"महाराज का अभी-अभी पत्र प्राप्त हुआ है। उन्होंने किसी अत्यावश्यक काम से मुझे अभी बुलाया है।"

पुष्पावती—"इस घोर अन्धेरी रात में आपको कहीं नहीं जाना है। पिताजी से कल प्रातः मिल लेना।"

ललितांग—"किन्तु, अत्यावश्यक काम है।"

पुष्पावती—"आपका मित्र सज्जन भी तो यहीं है। उन्हें भेजकर पहले ज्ञात कर लें। यदि अत्यन्त आवश्यक हो, तो फिर आप जायें।"

ललितांग को पुष्पावती का सुझाव भा गया। उसने सज्जन को बुलाया और विस्तृत जानकारी के साथ कहा—"तुझे अभी महाराज के पास जाना है।" वह फूला नहीं समाया। राजा से जब भी कोई बातचीत का प्रसंग आता, सज्जन उसे अपना अहोभाग्य समझता। वह शीघ्र ही तैयार होकर चला। उसके पैर धरती पर टिक नहीं पा रहे थे। वह ज्यों ही महल से बाहर आया, छुपे हुए दोनों व्यक्तियों ने सज्जन पर

उसने कहा—"मै श्रीवास शहर के राजा नरवाहन का पुत्र हूँ। तुम्हारा दामाद भी उसी नगर का निवासी है, किन्तु, कुलीन नही है। देखने में ही सुरूप है, किन्तु, परिगणित जाति का है। इसे कोई एक सिद्ध पुरुष मिला था। उसने अनुग्रहपूर्वक विद्या दी। उसकी बदौलत इसने आपकी कन्या का रोग शान्त किया है। आपको अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राजकुमारी का पाणि-ग्रहण इसके साथ करना पड़ा। मेरा अपने परिवार के साथ कलह रहता था; अतः घूमता-फिरता यहां आया हूँ। इसने मुझे देखकर पहचान लिया। मैं इसकी जाति के बारे में किसी को कुछ न कहूँ, अतः यह मुझे अपने पास रखता है।"

राजा ने सज्जन को विदा किया। दामाद परिगणित जाति का है, यह जानकर वह खौलने लगा। ऐसा दामाद मुझे नही चाहिए; यह सोचकर उसने एक गुप्त योजना बनाई। अपने दो विश्वासी व्यक्तियों को बुलाया और कहा—आज रात को ठीक दस बजे ललितांग के महल मे जो भी व्यक्ति बाहर आये, तुम उसकी हत्या कर देना। दूसरी ओर सायकाल उसने ललितांग के नाम एक पत्र लिखकर ठीक दस बजे अत्यावश्यक कार्य से उसे अपने महलों में बुलाया। दस

बजने में जब कुछ क्षण ही अवशिष्ट थे, ललितांग जाने की तैयारी करने लगा। घोर अन्धेरी रात थी। पुष्पावती ने साश्चर्य पूछा—"पतिदेव ! इस समय कहाँ जाने की तैयारी हो रही है ?"

ललितांग—"महाराज का अभी-अभी पत्र प्राप्त हुआ है। उन्होंने किसी अत्यावश्यक काम से मुझे अभी बुलाया है।"

पुष्पावती—"इस घोर अन्धेरी रात में आपको कहीं नहीं जाना है। पिताजी से कल प्रातः मिल लेना।"

ललितांग—"किन्तु, अत्यावश्यक काम है।"

पुष्पावती—"आपका मित्र सज्जन भी तो यहीं है। उन्हें भेजकर पहले ज्ञात कर लें। यदि अत्यन्त आवश्यक हो, तो फिर आप जायें।"

ललितांग को पुष्पावती का सुझाव भा गया। उसने सज्जन को बुलाया और विस्तृत जानकारी के साथ कहा—"तुझे अभी महाराज के पास जाना है।" वह फूला नहीं समाया। राजा से जब भी कोई बातचीत का प्रसंग आता, सज्जन उसे अपना अहोभाग्य समझता। वह शीघ्र ही तैयार होकर चला। उसके पैर धरती पर टिक नहीं पा रहे थे। वह ज्यों ही महल से बाहर आया, छुपे हुए दोनों व्यक्तियों ने सज्जन पर



सहसा दारुण चीत्कार सुनकर ललितांग और पुष्पावती, दोनों छज्जे में आयें। सज्जन की हत्या देखकर पुष्पावती ने कहा—नाथ! देखें, यह कैसा षड्यन्त्र था। यदि आप जाते तो?

हमला किया। एक भयंकर चीख के साथ उसने वहीं प्राण-त्याग कर दिया। सहसा दारुण चीत्कार सुनकर ललितांग और पुष्पावती; दोनों छज्जे में आये। सज्जन की हत्या देखकर पुष्पावती ने कहा—"नाथ! देखें, यह कैसा षड्यन्त्र था। यदि आप जाते तो?"

ललितांग का राजा पर रोष उभर आया। वह अपने महल से बाहर आया। अपनी सेना को सज्जित किया और मित्र की हत्या का बदला लेने के लिए राजा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। दोनों की सेना आकर डट गई। घर में ही युद्ध छिड़ा देखकर राजा को दुःख हुआ। उसने सहजता से दामाद को पूछा—"महानुभाव! तुम कौन हो?" ललितांग की आंखों में खून उतर आया। उसने उत्तर दिया—"मैं जो भी हूँ, मेरा भुजा-बल आपको बतलायेगा।"

प्रधानमंत्री सुमति ने स्थिति को संभाला। उसने राजा से इसका कारण पूछा, तो पिछले वार्तालाप का पता लगा। वह ललितांग के पास आया। उससे सारी घटना कही। उसका रोष कुछ शान्त हुआ। सज्जन के प्रति रही हुई आत्मीयता समाप्त हो गई। राजा को भी विश्वास हो गया कि सज्जन ने ही उसे भरमा कर सारा काम बिगाड़ा है; अतः वह उसके पास

आया और क्षमा मांगी। सज्जन को अपनी दुष्टता का प्रतिफल मिल ही गया। जो गड्ढा खोदता है, वही उसमें गिरता है।

राजा जितशत्रु अपने दामाद के शौर्य व कुलीनता से बहुत प्रभावित हुआ। बहुत वर्षों तक उसके साथ रहा। अन्तिम समय में अपना राज्य उसे सौंप कर प्रव्रजित हुआ।

ललितांग अपने पिता राजा नरवाहन से मिलने को उत्सुक हुआ। पुष्पावती के साथ श्रीवास नगर आया। राजा को उसके आगमन पर बहुत प्रसन्नता हुई। उसकी अटूट धार्मिक श्रद्धा और पराक्रम से भी अत्यधिक प्रभावित हुआ। राज्य-भार उसे सौंपा और स्वयं दीक्षित हो गया।

सत्य कभी आच्छादित नहीं होता। उसे ढांकने के अनेकशः उपक्रम हो सकते हैं, किन्तु, अन्ततः उनमें सफलता नहीं मिलती। सत्य धर्म का एक अविभाज्य अंग है; अतः धर्म की शाश्वत महिमा होती है। अधर्म का विनाश होता है। ललितांग ने दोनों राज्यों का शासन करते हुए जनता में धर्म के संस्कार भरे। अधर्म से लोगों को विमुख किया। स्वयं धर्माराधना

में विशेष लीन होने के लिए दीक्षित हुआ। उच्चतम भावना में संस्थित होकर उसने पण्डित मरण प्राप्त किया। इस देह से मुक्त होकर स्वर्ग में गया। वहां से अपना आयुष्य समाप्त कर महाविदेह में जन्म लेगा और वहां से निर्वाण को प्राप्त करेगा।



: ४ :

उत्तमकुमार

वाराणसी के राजा का नाम मकरध्वज और रानी का नाम लक्ष्मीवती था। दोनों ही दृढ़ धार्मिक, न्याय-परायण और परोपकारी थे। प्रजा की राजा के प्रति असीम भक्ति थी और राजा का उसी प्रकार प्रजा पर निःसीम वात्सल्य। राजा और प्रजा का वह तादात्म्य दोनों के लिए ही सुखकर था। किन्तु, राजा को पुत्र का बहुत अभाव खटकता था। कुछ वर्ष बीते, तो राजा की वह भावना फलीभूत हो गई। रानी ने एक कुमार को जन्म दिया। वह बुद्धि, विवेक, रूप और चातुरी में उत्तम था; अतः उसका नाम उत्तम दिया गया। शैशव को पार कर ज्यों-ज्यों वह यौवन की ओर बढ़ा, उसका पौरुष व कर्मठता का भी विकास हुआ। उसका व्यक्तित्व कर्तृत्व का उत्संग पाकर निखर उठा।

राज-प्रासाद में कुमार एक दिन विचार-मग्न बैठा था। वह अपने भविष्य की सुखद कल्पनाएं संजो रहा

था। सामने गंगा बह रही थी। वह उसकी सुषमा में खो रहा था। उसी समय एक मधुर संगीत उसके कानों में पड़ा। मधुरता के साथ उसमें जीवन का संदेश भी था; अतः कुमार सुनने में लीन हो गया। उस गीत की नाना कड़ियों में कहा गया था—"बाल्यावस्था में जो व्यक्ति पिता की सम्पत्ति का उपभोग करता है, वह उसके लिए समुचित होता है, किन्तु, सोलह वर्ष की अवस्था के बाद भी जो व्यक्ति उद्यमशील न होकर पिता की सम्पत्ति के आधार पर ही जीवन चलाता है, तो वह अकर्मण्यता की ओर बढ़ता है। उसे तो देश-विदेश में घूमकर अनुभव अर्जित करने चाहिए और अपने कौशल को बढ़ाना चाहिए। अपने पुरुषार्थ का ही खाना चाहिए तथा भाग्य का परीक्षण कर देखना चाहिए। धर्म और नीति के मार्ग को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। विदेश-गमन तो एक बार अवश्य होना ही चाहिए।"

मधुरता से सम्पृक्त उस गीत की कड़ियों ने उत्तमकुमार के हृदय में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उसका कर्तृत्व फड़क उठा। उसने गायक को शतशः साधुवाद दिया और समय पर सजग किया; अतः उसने उसका हार्दिक आभार भी माना। अपने भाग्य

की परीक्षा करने की उसने मन में ठानी। यदि मैंने अपने परिश्रम से कुछ भी अर्जित नहीं किया, तो जीवन व्यर्थ है; यह निश्चय कर वह अपने विशेष कमरे में आया और कपड़े पहिन कर तैयार हुआ। सहसा उसके मन में विचार आया, पिताजी मुझे किसी भी स्थिति में विदेश की अनुमति नहीं देंगे। मुझे अवश्य जाना है। बिना अनुमति लिए भी यदि चला जाऊँ, तो क्या दोष है; यह प्रश्न उसके मस्तिष्क में पुनः-पुनः चक्कर लगाने लगा। कुछ समय बाद उसने यह भी दृढ़ निश्चय कर लिया कि बिना अनुमति लिए भी मुझे प्रातःकाल राजमहल छोड़कर चले जाना है।

उषा की लाली के साथ ही कुमार ने वाराणसी को छोड दिया और घोड़े पर सवार होकर चल पड़ा। अनेक ग्राम, नगर, पर्वत व नदियाँ आदि लांघता हुआ वह चला जा रहा था। कुछ दिन बाद समुद्र-तट पर अवस्थित भरुच के बन्दरगाह पर वह पहुंच गया। उसी शहर में कुबेरदत्त नामक एक धनाढ्य व्यापारी रहता था। उसने उन्हीं दिनों अपने बहुत सारे जहाज भरे और व्यवसाय के निमित्त समुद्र-यात्रा की तैयारी की। वह बन्दरगाह पर खड़ा था। उसने उत्तमकुमार को उधर से आगे जाते हुए देखा, तो सहज जिज्ञासा से

पूछ लिया—"कुमार ! तुम कौन हो और यहाँ बन्दरगाह पर कैसे आये हो ?"

उत्तमकुमार ने उत्तर दिया—"सेठ ! मैं एक राजकुमार हूँ। देश-विदेश में घूमकर अनुभव अर्जित करने की अभिलाषा से मैं अपने राज-प्रासाद से चला हूँ।"

कुबेरदत्त ने कहा—"कुमार ! यदि तुम्हारी यही अभिलाषा है, तो तुम मेरा साथ करो। यह जहाज तुम्हारे लिए तैयार है। मुझे भी बहुत सारे देशों की यात्रा करनी है। दोनों का साथ दोनों के लिए ही लाभप्रद होगा।"

उत्तमकुमार तो चाहता ही था। उसने सेठ के निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया। सेठ कुमार और अपने सार्थ के साथ समुद्र-यात्रा पर चला। जहाज बहुत दूर पहुँच गये। सभी व्यक्ति यात्रा का आनन्द लूट रहे थे। सहसा रंग में भंग हुआ। एक भयंकर आवाज सुनाई दी। सभी व्यक्ति स्तम्भित से हो गये। चारों ओर उन्होंने दृष्टि दौड़ाई, तो एक ओर उन्होंने देखा, एक भीमकाय राक्षस 'खाऊँगा-खाऊँगा' बोलता हुआ उनके सामने दौड़ा आ रहा है। भय के मारे सभी के प्राण निकलने लगे। बचाव का कोई भी उपाय उन्हें नहीं दिख रहा था। कुबेरदत्त

उत्तमकुमार के पास आया और बोला—"वीर पुरुष ! तुम क्षत्रिय हो। यदि तुम अपना पौरुष दिखलाओ, तो हम सभी बच सकते है, अन्यथा सभी मौत की शरण जायेंगे। राक्षस के इस उपद्रव से तुम हमें बचाओ।"

अपनी चमचमाती हुई तलवार उठाकर उत्तमकुमार राक्षस के आगे आकर डट गया। लम्बे समय तक दोनो में संघर्ष होता रहा। दोनों के घात प्रत्याघात चलते रहे। उत्तमकुमार के आघात से राक्षस खीजता और दुगुने वेग से उस पर टूट पड़ता, किन्तु, कुमार इतना सजग था कि वह उसकी मार नहीं खाता। राक्षस बुरी तरह परेशान हो गया। उसे इस बात का बहुत दुःख था कि एक मनुष्य के हाथ उसे, पराजय खानी पडी। अन्ततः उसे वहां से भागना पड़ा, उपद्रव दूर हो गया। सभी व्यक्तियों ने सुख की सांस ली और उत्तमकुमार के शौर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

जहाज आगे चले। सभी व्यक्ति उल्लास से झूम रहे थे। सुदूर प्रदेश तक चले जाने पर ज्ञात हुआ कि पीने का पानी समाप्त हो गया है। समुद्र का खारा पानी पीने के उपयुक्त नही था। चारों ओर पानी की खोज हुई। एक वृद्ध नाविक ने कहा—"यहाँ निकट ही



दोनों के घात-प्रतिघात चलते रहे। उत्तमकुमार के आघात से राक्षस खीजता और दुगने वेग से उस पर टूट पड़ता, किंतु, कुमार इतना सजग था कि वह उसकी मार न खाता।

लंका नगरी का नाम आपने सुना ही होगा। वहाँ के राक्षस राजा भ्रमरकेतु की एक पुत्री है, जिसका नाम मदालसा है। एक बार नैमित्तिक से राजा को ज्ञात हुआ कि कन्या का विवाह किसी मनुष्य के साथ होगा। सुनते ही राजा की भृकुटि तन गई। सरोष बोला—क्या सभी खेचर समाप्त हो गए हैं, जो मेरी कन्या का विवाह भूचर के साथ होगा? मैं ऐसा कभी भी नहीं होने दूंगा। दृढ़ निश्चय पूर्वक भ्रमरकेतु ने समुद्र-तट पर एक भव्य महल बनाया। उसका एक ही द्वार रखा और वह इसी में खुलता है। मदालसा को इसी महल में रखा गया। यदि कोई मनुष्य इस ओर से गुजरता है, तो भ्रमरकेतु तत्काल बाहर निकलता है और उसे मार डालता है। कुमार! आप पराक्रमी है; अतः यहां साहसपूर्वक पहुँच पाये है। आपका मेरे प्रति भी ममत्व है। आप मेरे साथ चलें। मैं आपकी मदालसा से भेंट कराना चाहती हूँ।

आगे-आगे वृद्धा चलने लगी और पीछे-पीछे उत्तम-कुमार! उस महल की मनोरमता को देखकर कुमार अतिशय चकित हुआ। एक भव्य कमरे में दोनों ने प्रवेश किया। मदालसा ने आगे आकर उन दोनों का सम्मान किया। उत्तमकुमार और मदालसा की चार

आँखें हुई, तो दोनों ओर से ही स्नेह बरस पड़ा। वृद्धा ने दोनों को प्रणय-सूत्र में आबद्ध होने का प्रस्ताव रखा। दोनों ओर से मौन-स्वीकृति पाते ही वहाँ गान्धर्व विधि से विवाह कर दिया गया। वृद्धा बहुत हर्षित हुई। उसकी कई वर्षों की साध आज पूरी हुई।

कुमार, मदालसा और वृद्धा; तीनों वहाँ से चले और जहाज में आकर सवार हो गए। उत्तमकुमार के शौर्य को देखकर सभी विस्मित थे। सभी ने वर-वधू को अनेकशः बधाइयाँ दीं और जहाज आगे चल पड़े।

मनुष्य की दृष्टि में संस्कार और विकार दोनों होते हैं। संस्कार का पलड़ा जब हल्का हो जाता है, तो विकार बढ़ जाते हैं और उससे बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं। कुबेरदत्त ने जब मदालसा का सौन्दर्य देखा, उसके नेत्र विकार से भर गए। वह अपने मार्ग से स्खलित हो गया। उसके प्रयत्न भी आरम्भ हो गए। वह समय-असमय उत्तमकुमार के पास आता, इधर-उधर की बातें बनाता और सविकार नेत्र से घूर-घूर कर मदालसा को देखता। मदालसा ने उसके कुत्सित विचार भांप लिए। उसने कुमार को सूचित किया—"जिस पर आप अत्यधिक विश्वास करते हैं, उस सेठ के अभिप्राय मलिन हैं। आपको सजग रहना चाहिए।"

कुमार को मदालसा की बात पर विश्वास न हुआ। उसने उसका प्रतिवाद किया और कहा—"सेठ तो बहुत अच्छा आदमी है। तू उस पर व्यर्थ ही संदेह क्यों करती है ?"

भला व्यक्ति अपने ही मापक से मापता है, किन्तु, बहुत बार उसका परिणाम उल्टा होता है। उत्तम-कुमार ने सेठ पर कभी सन्देह नहीं किया, किन्तु, उसने इसका अनुचित लाभ उठाया। वह मदालसा से मिलने के स्वप्न संजोने लगा। अपने इच्छित का फलितार्थ देखने के लिए उत्तमकुमार की उपस्थिति उसे विशेष खलती थी। इस कण्टक को अपने बीच से हटाने के लिए एक दिन सेठ ने षड्यंत्र रचा। कुबेरदत्त जहाज के एक किनारे पर जाकर अकेला खड़ा हो गया। उसने कुमार को बुलाया, वार्तालाप में निमग्न किया और दृष्टि चुकाकर उसे समुद्र में धकेल दिया।

पुण्यशाली चाहे कहीं भी चला जाये, प्रतिकूलता भी अनुकूलता में बदल जाती है। धर्म और नीति में अडिग रहने वाला कभी घाटे में नहीं रहता। विपत्ति में फंसकर भी वह किसी-न-किसी मार्ग से बच निकलता है। कुमार ज्यों ही समुद्र में गिरा, एक बड़ा मत्स्य उधर से जा रहा था। वह उसे निगल गया।

उसी समय एक धीवर ने वहाँ जाल डाला। वह मत्स्य उसमें आ गया। बड़े मत्स्य को देखकर धीवर बहुत हर्षित हुआ। वह तत्काल अपने घर आया और उसे चीरा। एक तेजस्वी कुमार को देख कर धीवर अत्यधिक विस्मित हुआ। उसने सब कुछ छोड़कर मूर्च्छित कुमार को सचेत किया। उसने सहज अनुमान लगाया, आकृति से यह राजकुमार लगता है और किसी प्रपंच या स्थिति-विशेष से इसके साथ यह अघटित घटा है। जब कुमार सचेत हुआ, तो धीवर ने वृत्त पूछा। कुमार ने आदि से अब तक का अपना पूरा वृत्त बताया। धीवर के हृदय में करुणा के साथ आत्मीयता जगी। उसने उसे अन्यत्र नहीं जाने दिया। एक सम्मान्य अतिथि के रूप में अपने घर ही रखा।

उत्तमकुमार के समुद्र में गिरते ही कुबेरदत्त ने चिल्लाना आरम्भ किया—पैर फिसल जाने से उत्तमकुमार समुद्र में गिर पड़ा। शीघ्र आओ और उसे बचाओ। जहाज के सैकड़ों व्यक्ति वहाँ इकट्ठे हो गए। मदालसा ने जब यह सुना, उसे असह्य आघात लगा। शोक से कलपने लगी। उसकी कराहट ने सभी के दिल में मार्मिक वेदना पैदा करदी। कुबेरदत्त ने भी उसे बहुत सान्त्वना दी। मदालसा समझ गई, यह सारा

कार्य इसी का है। वह मन मसोस कर रह गई।

कुछ दिन बाद कुवेरदत्त मदालसा के पास आया और बोला—"मदालसा ! शोक-विह्वल होकर तू उत्तमकुमार की रट क्यों लगा रही है ? वह तो अब इस संसार से चल बसा है। तू उसकी आशा छोड दे। तुझे उसका अभाव खटकना नही चाहिए। मैं तेरे लिए उसी तरह प्राण देने को तैयार हूँ। मेरी सारी सम्पत्ति और ऐश्वर्य तेरे चरणों में अर्पित है।"

मदालसा उसके कुत्सित विचारो से अवगत थी। क्रोध में तमक कर बोली—"सेठ ! तू मेरी ओर लल-चाई नजर से देख रहा है, किन्तु, तेरी आशाओं पर पानी ही फिरेगा। मै एक वीर राक्षस की वीर कन्या और पौरुषशाली नरश्रेष्ठ की अहंमानिनी पत्नी हूँ। तेरे जैसे नरकीटों की ओर मैं आँख उठाकर भी नही देखूगी। तू मेरी दृष्टि से ओझल हो जा, वरना तेरे लिए भला न होगा।"

मदालसा का रौद्र रूप देखकर सेठ भी रोप मे भर आया और बोला—"उद्धते ! तुझे विचार होना चाहिए कि तू किससे बातें कर रही है। मैं यदि तेरे पर प्रसन्न हूँ, तो तेरे लिए सब कुछ है और यदि मै कुपित हो गया, तो तुझे कही रहने को भी स्थान नही

मिलेगा। यदि तूने मेरे कथन को अस्वीकार किया, तो मैं बल-प्रयोग करने से भी नहीं चूकूँगा। जहाज में तेरा सहयोगी कौन है? सभी मेरे ही तो अनुचर हैं।"

कुबेरदत्त की धमकी मदालसा को चौंकाने वाली थी। शारीरिक शौर्य की न्यूनता में सबल से भिड़ना समझदारी नहीं होती। मदालसा ने परिस्थिति को भाँप लिया। उसने अपने कथन को दूसरा मोड़ दिया और बोली—"सेठ! तुम्हारा सौन्दर्य और ऐश्वर्य किस व्यक्ति को आकर्षित नहीं करता?" तुम्हारे आदेश की अवगणना करने वाला अपना अस्तित्व कैसे टिका सकता है? किन्तु, मेरा एक विनम्र अनुरोध है। दस दिन तक हमें उत्तमकुमार की राह देखनी चाहिए और अभी कुछ भी नहीं करना चाहिए। शीघ्रता में और छुपकर किया गया कार्य कभी लाभप्रद नहीं होता। उसके बाद किसी राज-सभा में जाकर राजा की साक्षी में हम विवाह करेंगे।

मदालसा का मधुर कथन सेठ को भा गया। उसने सोचा, कोई भी काम धमकी से ही आसानी से करवाया जा सकता है। जो अपने में सती बन रही थी, वह एक बार में ही बदल गई। उत्तमकुमार अब

कहाँ से आने वाला है ? दस दिन बाद कुबेरदत्त के जहाज मोरपल्ली बन्दरगाह पर पहुँचे । अपनी शर्त के अनुसार सेठ और मदालसा दोनों वहाँ के राजा नरवाहन की सभा में आये । कुबेरदत्त ने अपना परिचय देने के अनन्तर कहा—"राजन् ! विदेशों में घूमते हुए मुझे अपने सौभाग्य से यह स्त्री-रत्न प्राप्त हुआ है । यह मेरे साथ विवाह करना चाहती है । आप अनुमति प्रदान करें ।"

राजा ने मदालसा की ओर झांका और पूछा—"क्यों, बहिन ! सेठ जो कुछ कह रहा है, वह सत्य है ? क्या तू इसके साथ विवाह करना चाहती है ?"

राजा के इस प्रश्न और बहिन सम्बोधन से मदालसा ने एक सुख की साँस ली । राजा समुचित रक्षा कर सकेगा, यह उसको पूरा विश्वास हो गया । उसने बद्धाजलि कहा—"राजन् ! सेठ ने जो कहा है, वह सर्वथा असत्य है । मैं राक्षस राजा मकरध्वज की पुत्री हूँ । वाराणसी के राजकुमार उत्तमकुमार के साथ मेरा विवाह हो चुका है । हम दोनों पति-पत्नी इस सेठ के जहाज से यात्रा कर रहे के मन में मेरे प्रति दुर्भावना जगी और पति को समुद्र मे गिरा दिया गया ।

स्कार करना चाहता था, किन्तु, मैंने अपने वाक्-चातुर्य से इससे दस दिन का समय माँगा और किसी राज-सभा में चलने को कहा। आज मुझे सौभाग्य से आपका साक्षात्कार हो गया है। मेरे पुनर्विवाह का अब प्रश्न ही नहीं उठता। आप रक्षक हैं। मैं आपकी शरण में हूँ। मेरी रक्षा करें।"

एक अबला की करुण स्थिति पर राजा की आँखों में खून उतर आया। उसने तत्काल आदेश दिया—"सारी सम्पत्ति जब्त कर इस नराधम को कारागृह में बन्द कर दिया जाए।" मदालसा की ओर राजा ने वात्सल्य से देखा और कहा—"बेटी! तू त्रिलोचना के साथ राजमहलों में सुख से रह। मेरे लिए जैसी त्रिलोचना बेटी है, वैसी ही तू है। तेरी रक्षा का भार मैं ले रहा हूँ।"

मदालसा के लिए इससे बढ़कर और क्या आश्रय हो सकता था? वह त्रिलोचना को समय-समय पर धार्मिक कथाएं सुनाती और उसका मनोरंजन करती। दोनों साथ-साथ रहतीं और सुख-दुःख में हिस्सा बटातीं।

एक दिन एक दुःखद घटना घटी। त्रिलोचना उद्यान में घूम रही थी और सखियों के साथ आमोद-

प्रमोद कर रही थी। वहां एक भयंकर काला सर्प निकला और उसने त्रिलोचना को काट लिया। त्रिलोचना के मुंह से एक दारुण चीख निकली और मूच्छित होकर वहीं गिर पड़ी। सभी सखियाँ घबरा गईं। वे वहाँ से दौड़ी और आकर राजा को सूचित किया। राजा, मंत्री और बहुत सारे सम्भ्रान्त नागरिक कुछ क्षण में ही वहां पहुँच गये। बड़े-बड़े चिकित्सक आए। अनेक उपचार किए गये, किन्तु, बेसुध त्रिलोचना को होश नहीं आया। राजा की व्यग्रता बढ़ती गई। शिबिका में सुला कर त्रिलोचना को राजमहलों में लाया गया। उपचार अविच्छिन्न चल रहा था, किन्तु, जहर नहीं उतरा। राजा को अत्यधिक निराश देखकर एक नैमित्तिक ने सुझाव दिया—"गारुड़ी विद्या का ज्ञाता इस जहर को सहज ही उतार सकता है, किन्तु, ऐसे व्यक्ति विरल ही होते हैं।"

राजा ने शहर में उद्घोषणा करवाई, जो व्यक्ति राजकुमारी को विष-मुक्त करेगा, उसके साथ कन्या का विवाह किया जायेगा। हजारों व्यक्तियों ने उस उद्घोषणा को सुना, किन्तु, ऐसा करने में सभी ने अपने को असमर्थ पाया। धीवर के घर ठहरे हुए उत्तमकुमार ने जब इस उद्घोषणा को सुना, तो उसने

उसे स्वीकार कर लिया। वह राज-सभा में आया। राजा ने उसका विशेष सम्मान किया और त्रिलोचना के पास ले गया। उत्तमकुमार ने णमोक्कार महामंत्र का स्मरण किया और राक्षस के भव्य महलों में मदालसा द्वारा प्रदत्त विशेष मणि के प्रभाव से विष-हरण किया। अँगड़ाई भरती हुई त्रिलोचना बैठी हो गई। उसने उत्तमकुमार, राजा, अपने पारिवारिकों तथा अन्य नागरिकों को क्रमशः नमस्कार किया। राजा ने अपनी घोषणा के अनुसार त्रिलोचना का विवाह उत्तमकुमार के साथ कर दिया। दोनों एक भव्य महल में रहने लगे।

राजकुमारी के जीवन-लाभ के हर्ष में राजा ने सैकड़ों बन्दीजनों को कारागृह से मुक्त किया। कुबेरदत्त भी उनके साथ छूट गया। शहर के रमणीय स्थलों को देखने के उद्देश्य से वह कुछ दिन वहीं रुका। एक दिन जब कि वह शहर में घूम रहा था, सहसा उत्तमकुमार पर उसकी दृष्टि पड़ी। सविस्मय उसने सोचा, "यह यहाँ कैसे आ गया ? मैंने इसे समुद्र में गिरा दिया था, तब भी यह जीवित है ? राजा का दामाद भी बन गया है।" उसके हृदय में प्रतिशोध की भावना भभक उठी। उसने दृढ़ निश्चय किया, जब

तक मैं इसे प्रेत्यधाम का अतिथि नहीं बना दूंगा, तब तक चैन से नहीं बैठूंगा।"

कुवेरदत्त घूमता-फिरता शहर के बाहर एक उद्यान में पहुँचा। वहाँ एक मालिन फूल चुन रही थी। कुवेरदत्त उसके पास आया और उसके व्यवसाय के बारे में पूछा। मालिन ने उत्तर दिया—"फूल चुनकर मालाएं और गुलदस्ते बनाती हूँ और नागरिकों को बेचती हूँ।"

कुवेरदत्त—"क्या कभी राजा और मंत्री के घर भी फूल देने जाती है?"

मालिन—"राजा, मंत्री, प्रमुख-प्रमुख अधिकारी व सुप्रसिद्ध सेठों के घर बहुत बार जाती रहती हूँ।"

कुवेरदत्त—"क्या राजा के नव दामाद को पहचानती है?"

मालिन—"हाँ, अच्छी तरह पहचानती हूँ। कुछ दिन पूर्व ही उसका त्रिलोचना के साथ विवाह हुआ है। उसके महलों में भी फूल देने के लिए जाती हूँ।"

कुवेरदत्त ने अपना सोने का हार उसके हाथ में दिया और कहा—"मैं तुम्हारे द्वारा अपना एक विशेष काम कराना चाहता हूँ। क्या तू उसे कर देगी?"

सोने के हार ने मालिन को विना कुछ सोचे-समझे ही हाँ भरने को विवश कर दिया। उसने बातें बघा-

रते हुए कहा—"सेठ ! जो भी आप आदेश करेंगे, अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसे पूर्ण करूँगी । आप मुझे शीघ्र कहें ।"

कुबेरदत्त ने कहा—"राजा का दामाद उत्तमकुमार मेरा शत्रु है । मैं उसे जीवित देखना नहीं चाहता । किसी गुप्त प्रयत्न से क्या तुम इस कार्य को सम्पन्न कर सकोगी ?"

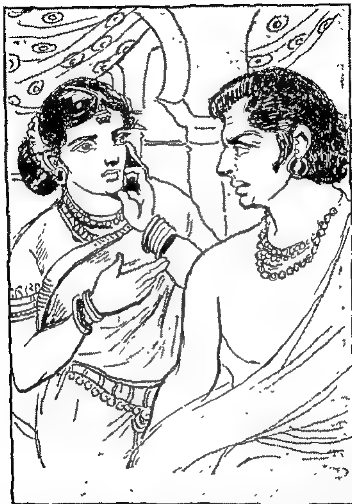
मालिन विचार में पड़ गई । उसका हृदय कांप उठा । एक निरपराध प्राणी को मौत के घाट उतारना उसकी भावना के प्रतिकूल था । सेठ ने उसकी भावना को भांप लिया । उसने अपनी स्वर्ण-मुद्रिका निकाली और उसके हाथ पर रख दी । सोने के भार से उसकी सात्विक वृत्तियाँ दब गईं और तामसिक वृत्तियां उभर आईं । उसने तत्काल उत्तर दिया—"सेठ ! मैं अभी उत्तमकुमार के महल में जाऊँगी । त्रिलोचना प्रतिदिन प्रातः अपनी सहेली के पास अन्य महल में जाती है । उत्तमकुमार अकेला ही रहता है । मैं जाकर उसके हाथ में फूलों का एक गुच्छा दूँगी, उसके बीच एक नन्हा जहरीला राज सर्प रख दूँगी । ज्यों ही कुमार गुच्छे को देखेंगे, सर्प बाहर आयेगा और काट खायेगा । कुमार उसी समय काल-कवलित हो जाएंगे ।

कुबेरदत्त ने मालिन को बहुत धन्यवाद दिया और शीघ्र ही काम सम्पन्न कर आने के लिए कहा। मालिन अपने छाब में एक बहुत सुन्दर गुच्छा तथा अन्य फूल लेकर राजमहलों की ओर शीघ्रता से चली। उत्तमकुमार उस समय वस्त्रादि पहिन कर बाहर जाने की तैयारी कर रहा था। उसी समय मालिन ने आगे बढ़कर उसके हाथ में वह गुच्छा दिया। कुमार उसकी सुन्दरता को देखने लगा। मालिन वहां से खिसक गई। नन्हा-सा सर्प बाहर निकला और कुमार के हाथ को डस गया। कुमार के मुंह से चीख निकली और मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ा। महल में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था।

उसी शहर में अनंगसेना नामक एक वेश्या रहती थी। उसने अपने चातुर्य से बड़े-बड़े धनिकों और अधिकारियों पर अपनी धाक जमा रखी थी। एक बार राज-सभा में उसने उत्तमकुमार को देखा। वह उसके लावण्य पर अतिशय मुग्ध हुई। उसे भी अपने जाल में फंसाने का वह स्वप्न संजोने लगी। समय-समय पर वह राजमहलों में आती और उत्तमकुमार से घनिष्ठ सम्पर्क साधने का प्रयत्न करती। ज्यों ही मालिन कुमार के महलों से निकली, वेश्या भी उधर

से गुजर रही थी। कोई भी प्रातिहारिक वहाँ नहीं था; अतः वह तत्काल ऊपर चढ़ गई। उसने कुमार को मृतवत् अवस्था में पड़ा देखा। शरीर नीला हो गया था। उसने अनुमान लगाया, सर्प ने काट खाया है। वेश्या के पास विष-हर मणि थी। उसके स्पर्श से जहर दूर हो गया और कुमार स्वस्थ होकर बैठा हो गया। वेश्या पर कुमार प्रसन्न हुआ। उसने उसे वरदान मांगने के लिए कहा। वेश्या ने कहा—"कुमार ! मैं तुम्हारे पर मुग्ध हूँ। मेरे साथ शीघ्र विवाह करें और मुझे अनुगृहीत करें।" कुमार सुनते ही स्तब्ध हो गया। वेश्या ने कहा—"क्षत्रिय का वचन अन्यथा नहीं होता। मैंने आपको जीवन-दान दिया है। क्या आप उसके प्रत्यावर्तन में मेरा यह तुच्छ-सा अनुरोध भी स्वीकार नहीं करेंगे ?"

कुमार वेश्या के प्रस्ताव से मुकर न सका। उसकी मौन स्वीकृति पर वेश्या ने उसके गले में एक सूत्र बांधा। उत्तमकुमार का शरीर बदल गया। वह एक तोता हो गया। तोते को अपने वस्त्रों में छुपाकर वह अपने घर ले आई। राजा को यह घटना ज्ञात न हो, इस उद्देश्य से दिन में उसे तोता बनाये रखती और रात में उस सूत्र को खोलकर उसे मनुष्य बना लेती।



वेश्या ने कहा—"क्षत्रिय का वचन अन्यथा नहीं होता। मैंने आपको जीवन-दान दिया है। क्या आप उसके प्रत्यावर्तन में मेरा यह तुच्छ-सा अनुरोध भी स्वीकार नहीं करेंगे?"

रात-भर उसके साथ प्रेम-क्रीड़ा करती।

दामाद के अचानक गुम हो जाने पर राजा को बहुत चिन्ता हुई। उसने खोज के लिए अपने सैकड़ों अनुचरों को सभी ओर दौड़ाया। कहीं भी उसका सुराग नहीं मिला। सभी को निराश होकर लौटना पड़ा। हताश होकर राजा को उद्‌घोषणा करवानी पड़ी, जो व्यक्ति उत्तमकुमार की खबर ला देगा, उसे राजा अपना सारा राज्य देगा और नगरसेठ अपनी सहस्र-कला कन्या का उसके साथ विवाह करेगा।

एक दिन असावधानी से पिंजड़ा खुला रह गया। तोते की काया में उत्तमकुमार ने शहर में हो रही उस उद्‌घोषणा को सुना। तोता उसी समय उन व्यक्तियों के पास पहुँचा। आकाश में धीरे-धीरे उड़ते हुए उसने कहा—"राजा को सूचित करो कि उनके दामाद के बारे में मैं विस्तार से बताऊँगा। मैं अनंगसेना वेश्या के घर रहता हूँ।" सभी श्रोताओं को आश्चर्य हुआ। वे दौड़कर राज-सभा में पहुँचे और राजा को उस चामत्कारिक तोते की सूचना दी। राजा ने तत्काल अपने विश्वस्त अधिकारियों को भेजकर तोता मंगा लिया। सभा में उपस्थित सभी व्यक्ति उत्सुकतापूर्वक सुनने लगे। तोता मनुष्य की भाषा में बोला। उसने बारा-

णसी से लेकर अनंगसेना वेश्या के घर पहुँचने तक की विस्तृत कहानी बड़ी सरसता से सुनाई। साथ में यह भी कहा—वह अभी भी वहाँ सुखपूर्वक रह रहा है। मैंने आपके दामाद का पता लगा दिया है। अपनी घोषणा के अनुसार आप अपना राज मुझे सौंपे और सेठ की कन्या का मेरे साथ विवाह करें।

सभी श्रोता विस्मित थे और राजा की ओर देख रहे थे। कोई कह रहा था, राजा तोते को अपना राज कैसे सौंप देगा? दूसरा बोला, सेठ अपनी कन्या को इस छोटे से पक्षी के भाग्य पर कैसे छोड़ देगा? तीसरे ने कहा—"एक पक्षी मनुष्य के बारे में इतनी जानकारी रखे, यह परम आश्चर्य है।" चौथे ने कहा—"देखे, राजा इस समस्या को सुलझाने के लिए क्या उपक्रम करता है।" सभा में चारों ओर खुसर-फुसर होने लगी। राजा ने कहा—"शुकराज! जो तुम कह रहे हो, वह सत्य ही है, बिना किसी स्पष्ट प्रमाण के हम यह कैसे मान लें!"

शुकराज इस अपमान से दुःखित होकर उड़ने लगा। उसने कहा—"आपको विश्वास न होता हो, तो मुझे इस बारे में कुछ भी नहीं कहना है। मुझे खेद है कि मैं व्यर्थ ही इस प्रपंच में क्यों पड़ा?"

मदालसा आगे आई और बोली—"शुकराज ! हमारे पर अनुग्रह कर आप उड़ान न भरें। आप ऐसी कोई बात अवश्य और कहें, जिससे आपका कथन विशेष पुष्ट हो सके।"

शुकराज ने कहा—"मैं यहीं बैठा हूँ। आप अपने अनुचर भेजकर वेश्या के यहाँ से खबर मंगा लें।"

राजा के आदेश का विलम्ब था। तत्काल अनुचर छोड़े। उन्होंने वेश्या के घर के चप्पे-चप्पे को छान डाला, किन्तु, उत्तमकुमार नहीं मिला। सभी निराश लौट आए।

राजा ने शुक की ओर देखा और कहा—"तुम्हारा कथन असत्य कैसे हो रहा है ?"

शुक ने सस्मित सब की ओर देखा और कहा—"राजन् ! मेरा कथन असत्य नहीं है। प्रमाण मैं स्वयं बैठा हूँ। उत्तमकुमार मैं स्वयं ही हूँ। वेश्या ने मुझे मंत्र-प्रयोग से ऐसा बना रखा है। मेरे गले में बँधा यह धागा तोड़ डालें, आप मुझे पहचान लेंगे। राजा स्वयं उठा और उसने अपने हाथों से उस धागे को तोड़ा। तोता उत्तमकुमार हो गया। दर्शकों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। राजा कुबेरदत्त, मालिन व अनंग-सेना पर कुपित हुआ, किन्तु, उत्तमकुमार ने उन्हें

दण्डित नहीं होने दिया। तीनों को ही उसने क्षमा प्रदान की।

उत्तमकुमार ने राजा की घोषणा के अनुसार सहस्रकला के साथ व अपने पूर्व गाढ़ स्नेह के कारण अनंगसेना के साथ विवाह किया। अपनी चारों पत्नियों के साथ आनन्द-मग्न रहने लगा। राजा नरवाहन ने अपना राज्य भी उत्तमकुमार को सौंप दिया तथा स्वयं दीक्षित होकर तपश्चरण में लीन हो गया।

माता-पिता से मिलने के लिए उत्तमकुमार के मन में अब उत्कण्ठा जगी। वह अपनी चारों पत्नियों, राज्याधिकारियों व सम्भ्रान्त नागरिकों के साथ वाराणसी आया। राजा मकरध्वज को बहुत प्रसन्नता हुई। बहुत वर्षों तक पिता-पुत्र साथ-साथ रहे। वृद्धावस्था आने पर राजा ने शासन-भार का दायित्व उत्तमकुमार को सौंप दिया और स्वयं दीक्षित होकर आत्म-साधना में लीन हो गया।

उत्तमकुमार ने दोनों राज्यों का शासन सम्भाला और उसका सुचारु रूप से वहन किया। अपनी राज्य-सीमा का काफी विस्तार किया। सत्य, न्याय व परोपकार से जनता की अतिशय आत्मीयता अर्जित की। पिछली परम्पराओं को उसने भुला दिया।

एक बार एक जैन मुनि वाराणसी पधारे। राजा उत्तमकुमार ने उनके दर्शन किये और उपदेश सुना। आध्यात्मिक प्रेरणा से राजा आसक्ति से विरक्ति की ओर बढ़ा। साधु-धर्म स्वीकार किया। घोर तप में लीन होकर पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा की। आयु समाप्त कर स्वर्ग में गया।



: ५ :

सेठ अकलशा

घोघापाटण नामक एक भव्य नगर था। वहाँ के बड़े-बड़े व्यापारी दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। वहाँ से समुद्र-पार व्यापार भी बहुत होता था। दूर-दूर के बहुत से व्यापारी भी समय-समय पर वहाँ आते रहते थे। धनिक और गरीब सभी का व्यवसाय अच्छा चलता था और सभी सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे।

भूपतिसिंह वहां का न्यायी और पराक्रमी राजा था। उसके दो रानियां थीं। दोनों के एक-एक पुत्र हुआ। बड़े का नाम मानसिंह और छोटे का नाम हमीरसिंह था। एक बार हमीरसिंह की माता ने सोचा, मानसिंह युवराज है; अतः राज्य-शासन उसे मिलेगा। हमीर के साथ वह क्लेश न करे, उसे संताप न दे; इसका प्रबन्ध अभी से कर देना चाहिए। जब राजा भूपतिसिंह महलों में आया, तो उसने प्रस्ताव रखा भाइयों का राज्य बांट देना चाहिए। आपके समक्ष यह

सहजता से हो जाएगा । अभी दोनों भाइयों में अच्छा प्रेम है । भविष्य में भी दोनों के बीच ऐसा ही बना रहे, यह अपेक्षित है । भूपतिसिंह को यह बात भा गई । उसने दोनों पुत्रों को अपने पास बैठाकर राज्य का बटवारा कर दिया । समय गुजरा और उससे प्रभावित हो राजा और दोनों रानियां नश्वर शरीर को छोड़कर चल बसीं ।

मानसिंह राज्य-सिंहासन पर बैठा । दोनों भाइयों की मैत्री अद्‌भुत थी । मानसिंह प्रत्येक राजकीय व्यवस्था में हमीरसिंह से परामर्श करता । हमीरसिंह भी बड़े भाई का पिता की भाँति सम्मान करता । मानसिंह राज्य की नीति का संचालन करता और हमीरसिंह उसे क्रियान्वित करता । हमीरसिंह कार्य-संचालन में बहुत पटु था । साथ ही न्याय, नीति और सत्य-निष्ठा से उसके काम में और निखार आ जाता । प्रजा में उसका अत्यधिक आदर था । हमीर का सौन्दर्य भी अद्‌भुत था । रूप और गुण का वह अद्‌भुत सम्मिश्रण प्रत्येक व्यक्ति के आकर्षण का केन्द्र था ।

मानसिंह की पत्नी का नाम कामलता था । वह सद्‌विचारों में पली अवश्य थी; किन्तु, व्यवहार में वे

तनिक भी नहीं उत्तर पाए। महारानी थी, पर, उसके काम घिनौने थे। प्रतिक्षण वह काम-पीड़ित रहती थी। जो भी सुन्दर पुरुष उसकी नजर चढ़ता, उसके लिए बच पाना असम्भव हो जाता था। एक दिन सायंकाल हमीरसिंह घोड़े पर सवार होकर घूमने जा रहा था। अपने महल के वातायन में बैठी कामलता ने उसके तेजस्वी ललाट को देखा। वह मोहान्ध हो गई। अपनी दासी को भेजकर उसे अपने महल में बुलाया। सन्ध्या के साये में अपनी भाभी के महलों में जाते हुए एक वार उसके पांव ठिठके, किन्तु, न जाने में भी मातृ-तुल्या भाभी का अपमान था; अतः वह चला आया। कामलता ने अपनी कुत्सित भावना व्यक्त की। हमीरसिंह के शरीर में आग लग गई;- फिर भी उसने संयत वाणी से महारानी को समझाया। उसने संक्षेप में कहा—"आप मेरी भाभी हैं, अतः माता-सदृश है। अपने पुत्र के साथ आप ऐसा अनुचित कार्य करने के लिए कदम न उठायें। मेरे से आपकी यह भावना पूरी न हो सकेगी। भाभी! मुझे क्षमा करें।" हमीरसिंह उठा और चल दिया। कामलता की आशा पर पानी फिर गया। उसने हमीरसिंह को अपमानित करने के लिए तत्काल कदम उठाया। वह उसके पीछे

दौड़ो और ज़ीने में उतरते हुए उसे अपनी बाहों में भीड़ लिया। साथ ही हल्ला मचा दिया, मेरी इज्जत लूटी जा रही है। मुझे बचाओ, मुझे बचाओ। आस-पास के कमरों से बीसों दासियां दौड़ आईं। रानी ने उसे छोड़ दिया। वह अपने महलों में चला आया। हमीरसिंह हैरान रहा। साश्चर्य उसके मुंह से एक आह निकली, विधि! तू विचित्र है।

अप्रत्याशित इस घटना से हमीरसिंह एकदम बेचैन हो गया। नारी-जाति की अधमता पर उसका चिन्तन चल रहा था। एक सन्देशवाहक आया और उसने हमीरसिंह के हाथ में मानसिंह का लिखा एक पत्र दिया। उसमें लिखा गया था—"दुष्ट हमीर! आज तक मैं तुझे सुशील और चतुर समझता था। मेरे हृदय में तेरी बहुत इज्जत थी। मैंने कभी भी तेरे पर सन्देह नहीं किया। किन्तु आज तूने मेरी उन स्वर्णिम भावनाओं पर कालिख पोत दी है। आज ही तेरे द्वारा होने वाले जघन्य कार्य की जब मुझे सूचना मिली, मेरा रक्त उबलने लगा। मातृ-तुल्या भाभी के साथ जो तूने अधम व्यवहार किया है, वह अपनी कुल-परम्परा को लज्जित करने वाला है। मैं ऐसे भाई को एक क्षण भी नहीं सह सकता। तू मुझे यह कलंकित मुख

मत दिखाना। कल सूर्योदय से पूर्व मेरी राज्य-सीमा छोड़कर कहीं चले जाना। यदि इस आदेश की तनिक भी अवहेलना की गई, उसका परिणाम बहुत कटु होगा।"

हमीरसिंह ज्यों-ज्यों पत्र पढ़ता जा रहा था, उसकी आंखें पथरा रही थीं। उसे अपने अग्रज से यह आशा नहीं थी। उसे स्त्री-जाति की धूर्तता पर विशेष खिन्नता हुई थी और उससे भी बढ़कर मानसिंह पर, जिसने वास्तविकता की छान-बीन किये बिना ही इतना कटु पत्र लिख डाला था। उसने गम्भीरता-पूर्वक निश्चय किया, अभी इसका प्रतिवाद नहीं करना चाहिए। राज्य-सीमा को लांघकर चले जाना ही समुचित है। वह अपनी चल-अचल सम्पत्ति की समुचित व्यवस्था करने के लिए कदम उठाने लगा। उसने शहर के एक-एक सेठ पर दृष्टि डाली। किसी विश्वस्त और प्रामाणिक व्यक्ति की खोज में काफी समय तक वह खोया-सा रहा।

उसी शहर में अकलशा नामक एक सेठ रहता था। उसके पास केवल एक लाख की ही पूंजी थी। वह व्यवसाय नहीं करता था। जितनी वार्षिक आवश्यकता होती, किराये और व्याज से उसकी पूर्ति हो

जाती। धर्म पर उसकी दृढ़ निष्ठा थी। दिन-भर सामायक, ध्यान, स्वाध्याय आदि में लीन रहता। अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह से अपने जीवन का निर्वाह करता था। अपने में पूर्ण संतुष्ट था। वह किसी के साथ माया का व्यवहार नहीं करता था।

भद्रा अकलशा की पत्नी थी। वह भी भद्र, ऋजु व धर्मपरायणा थी। पति की शिक्षाओं से वह पाप-भीरु रहती थी। किन्तु, सरल अविक थी। दूसरों की देखा-देखी बहुत करती थी। किसी पड़ोसिन के यहां नये प्रकार के वस्त्र व आभूषण देखकर वैसे ही बनाने के लिए सेठ को विवश करती। सेठ उसे दूसरों का गलत अनुकरण न करने के लिए समझाता। भद्रा शान्त हो जाती।

एक बार भद्रा अपने पड़ोसी सेठ हीराचन्द के घर गई। उसकी सेठानी का नाम लक्ष्मीदेवी था। सेठ की देश-विदेश में अनेक दुकानें चलती थीं। बड़ा व्यवसाय था। सैकड़ों मुनीम व नौकर थे। भद्रा लक्ष्मीदेवी के साथ जब बातें कर रही थी, अनेक अनुचर उसके पास नाना परामर्श के लिए आये। घर में चारों ओर राजसी ठाठ लगा हुआ था। भद्रा का मन ललचा गया। लक्ष्मीदेवी ने अपने वैभव की बातें बधा-

रनी आरम्भ की—"भद्रा ! देख, हमारी दुकानों पर कितना व्यवसाय होता है। प्रतिवर्ष लाखों रुपये बरसते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् भी हमारे यहां नौकरी के लिए चक्कर लगाते रहते हैं। सेठजी जहां भी जाते हैं, सभी बड़ा सम्मान करते हैं। यह सब दौलत की करामात है। तुम्हारे पति व्यवसाय नहीं करते। दिन-भर घर में ही बैठे रहते हैं; अतः उन्हें कोई नहीं पूछता। वैभव भी नहीं बढ़ता। यदि तेरे पति भी व्यवसाय करें, तो धन और प्रतिष्ठा, दोनों ही तेरे घर दौड़ते हुए आयेंगे।"

लक्ष्मीदेवी के वचन-तीर ने भद्रा के सरल हृदय को बींध डाला। वह घर आई और अकलशा को व्यवसाय के लिए बाधित करने लगी। उसने कहा—"हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाना निठल्ले व्यक्तियों का काम है। सेठ हीराचन्द की तरह आप भी व्यवसाय करें। घर में छप्पर फाड़कर धन बरसेगा। यदि आपने ऐसा नहीं किया, तो मैं घर छोड़ कर चली जाऊँगी।"

अकलशा ने भद्रा को उत्तर देते हुए कहा—"सरलाशये ! दूसरे की अट्टालिका देखकर क्या अपनी झोंपड़ी [illegible] व्यापार में असत्य

विश्वासघात, छल व अनीति आदि का प्रयोग होता है। अपने पास खाने को दो अच्छी रोटियां हैं। हमें इस अधार्मिक काम में नहीं पड़ना चाहिए। धन बहुत अधिक नहीं है, किन्तु, सुख, शान्ति व प्रतिष्ठा की कोई कमी नहीं है। निर्भय होकर सोते हैं और निर्भय ही जगते हैं। व्यापार आरम्भ कर व्यर्थ की उपाधि मोल नहीं लेना चाहिए?"

भद्रा की भद्रता ने अकलशा के चातुरी पूर्ण उपदेश को ग्रहण नहीं किया। उसका तो एक ही हठ था। वह खिसियानी होकर घर के एक कोने में जा कर बैठ गई। अकलशा बहुत परेशान हो गया। वह अपनी धार्मिक जीविका ही चलाना चाहता था; किन्तु, नारी-हठ के समक्ष उसे झुकना पड़ा। उसे भद्रा को बाधित होकर कह देना पड़ा, अब मैं शीघ्र ही व्यवसाय आरम्भ कर दूंगा। भद्रा को इस आश्वासन से परम हर्ष हुआ।

अकलशा बाजार में निकला। बहुत सारे व्यापारियों से बातें कीं। अकलशा के पुनः व्यापार-प्रवेश पर सभी ने प्रसन्नता व्यक्त की। एक बड़ी दुकान में नानचन्द नामक एक मुनीम बड़ी शान-शौकत से बैठा था। उसके इधर-उधर बहुत सारे व्यक्ति बैठे थे, जो

उससे परामर्श कर रहे थे। अकलशा ने उसे देखा। वातावरण से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह व्यापार मेंबहुत दक्ष है। सेठ ने उसे सायंकाल घर पर आने का निमंत्रण दिया। नानचन्द ने उसे स्वीकार कर लिया।

सायंकाल नानचन्द अकलशा के घर आया। सेठ ने उसका हार्दिक स्वागत किया। शिष्टाचार के अनन्तर सेठ ने कहा—"नानचन्द ! व्यापार में तुम बहुत दक्ष प्रतीत होते हो, किन्तु, करते कुछ भी नहीं हो, यह कैसे ?"

नानचन्द ने कहा—"मान्यवर ! मैं व्यापार करना तो चाहता हूँ, किन्तु, उसका साधन नही है।"

अकलशा ने कहा—"साधन मैं दूंगा और व्यापार तू कर। दोनों की साझीदारी में बन्दरगाह पर एक आढ़त की दुकान करो।" नानचन्द ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। अकलशा ने एक शर्त रखी। पच्चास हजार की रकम मैं तुझे सौंपता हूँ। इससे अधिक का व्यापार नहीं करना है। यदि यह रकम बढ़कर लाख रुपये तक पहुँच जाये, तो लाख रुपये तक व्यापार कर सकता है। संक्षेप में इतना ही [illegible] में जितनी पूंजी हो, उतना ही व्यवसाय किया [illegible] ने इसे नीति के रूप में

अकलशा के नाम पर बन्दरगाह पर आढ़त की दूकान खोल दी गई। दूर-दूर के बड़े-बड़े व्यापारी वहाँ आते और व्यापार करते। थोड़े ही दिनों में दुकान बहुत प्रसिद्ध हो गई और एक लाख की अतिरिक्त आय हुई। मुनीम नानचन्द फूला-फूला सेठ के पास आया और उसने लाभ का पूरा-पूरा ब्यौरा उसके समक्ष रखा। सेठ ने पुनः अपनी उसी शर्त को दुहराया।

नानचंन्द धुंआंधार व्यवसाय करने लगा। पहली सफलता ने उसके हौसले को द्विगुणित कर दिया। जब वर्ष पूरा हुआ, पाँच लाख का लाभ हुआ। नानचन्द ने अपनी प्रामाणिकता से सेठ को सूचित कर दिया।

व्यक्ति चाहे कितना भी दक्ष क्यों न हो, जब पाप का उदय होता है, दक्षता अदक्षता में बदल जाती है। सोचे हुए कार्य उलटे हो जाते हैं। जहाँ अतिशय लाभ ज्ञात होता है, वहाँ अप्रत्याशित हानि भी हो जाती है। यही नानचन्द के साथ हुआ। एक बार कच्छ देश से लाखा सार्थवाह सैकड़ों वाहन भर कर घोघा बन्दरगाह पर आया। उसे अपना सारा माल जावा बन्दरगाह भेजना था। वह सेठ हीराचन्द के यहाँ ठहरा और उसकी ही आढ़त में अपने पन्द्रह लाख रुपये के माल का बीमा करवाना चाहता था। सेठ का मुनीम नान-

उससे परामर्श कर रहे थे। अकलशा ने उसे देखा। वातावरण से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह व्यापार मेंबहुत दक्ष है। सेठ ने उसे सायंकाल घर पर आने का निमंत्रण दिया। नानचन्द ने उसे स्वीकार कर लिया।

सायंकाल नानचन्द अकलशा के घर आया। सेठ ने उसका हार्दिक स्वागत किया। शिष्टाचार के अनन्तर सेठ ने कहा—"नानचन्द ! व्यापार में तुम बहुत दक्ष प्रतीत होते हो, किन्तु, करते कुछ भी नही हो, यह कैसे ?"

नानचन्द ने कहा—"मान्यवर! मैं व्यापार करना तो चाहता हूँ, किन्तु, उसका साधन नही है।"

अकलशा ने कहा—"साधन मैं दूंगा और व्यापार तू कर। दोनों की साझीदारी में बन्दरगाह पर एक आढ़त की दुकान करो।" नानचन्द ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। अकलशा ने एक शर्त रखी। पच्चास हजार की रकम मैं तुझे सौंपता हूँ। इससे अधिक का व्यापार नही करना है। यदि यह रकम बढकर लाख रुपये तक पहुँच जाये, तो लाख रुपये तक व्यापार कर सकता है। संक्षेप में इतना ही कि दुकान में जितनी पूंजी हो, उतना ही व्यवसाय किया जाये। नानचन्द ने इसे नीति के रूप में स्वीकार कर लिया।

चन्द के पास आया। सारी घटना कही। अच्छे लाभ का प्रलोभन दिया और बीमा लेने का आग्रह करने लगा।

नानचन्द ने कुछ सोचा। उसके मस्तिष्क में आया, सेठ अकलशा की शर्त है कि दुकान में जितनी पूंजी हो, उससे बढ़कर व्यवसाय नहीं करना है। यह बीमा उससे बहुत अधिक है। दूसरे ही क्षण सोचा, अभी पुण्य-बल वृद्धि पर है। जिस काम में हाथ डालता हूं; सवाया लाभ तो होता ही है। इतने बड़े बीमे में लाभ भी बहुत अधिक है। इसी उधेड़-बुन में अन्ततः उसने बीमा स्वीकार कर लिया।

मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ ही है। जैसा सोचा जाता है, यदि वैसा हो जाये, तो मर्त्यलोक भी स्वर्ग से कम न रहे। नानचन्द की धारणा थी कि जहाज अच्छी तरह से जावा बन्दरगाह पर पहुँच जायेंगे। इस एक ही सौदे में तीन लाख का लाभ होगा। किन्तु, ज्यों ही जहाज बीच समुद्र में पहुंचे, एक भयंकर तूफान उठा, आकाश गरजने लगा, बिजली चमकने लगी और मूसलाधार वर्षा होने लगी। वर्षा और तूफान में जहाज फंस गए। नाविकों ने उन्हें बचाने का भगीरथ प्रयत्न किया, किन्तु, बचाव नहीं हो सका। अधिकांश नाविकों ने जहाज वहीं छोड़ दिए

और स्वयं वहाँ से बच निकले। उन्होंने घोघा बन्दरगाह पर सेठ हीराचन्द को उक्त घटना-प्रसंग से सूचित किया।

सेठ हीराचन्द नानचन्द के पास आया और सारी घटना उसे सुनाई। सेठ ने उसी समय उससे पन्द्रह लाख रुपये भी माँगे। नानचन्द हक्का-बक्का रह गया। उसके तो होश उड़ गए। उसे इस बात की अधिक चिन्ता हुई कि इतने बड़े खतरे का काम सेठ को बिना सूचना दिए ही कर लिया। अकलशा के उपालम्भ की स्मृति उसे दहला रही थी। फिर भी वह जैसे-तैसे ढाढ़स बाँध कर सेठ के पास आया। सारी घटना उसे सुनाई। अकलशा भी सुनते ही स्तम्भित-सा हो गया। एक साथ पन्द्रह लाख का घाटा वह कैसे सहन कर सकता था। उसे इससे भी बड़ी चिन्ता यह थी कि इतनी बड़ी रकम का अब भुगतान कैसे किया जाएगा! उसने नानचन्द को कड़ा उलाहना दिया और कहा—"तू ने मेरी शर्त का उल्लंघन किया और इतने बड़े काम में मुझे अनभिज्ञ भी रखा। किन्तु, अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत। जाओ, तुम सेठ हीराचन्द से कह दो, कल प्रातःकाल पन्द्रह लाख की भुगतान कर दी जाएगी।"

एक ओर फेंक दी और लीन होकर कायोत्सर्ग में बैठ गया। परमेष्ठी पचक का स्मरण उसका एक मात्र शरण बन रहा था।

हमीरसिंह को सूर्योदय से पूर्व ही राज-सीमा छोड़कर चले जाना था। वह अपनी सम्पत्ति सौंपने के लिए शहर के बड़े-बड़े सेठों के पूर्व इतिवृत्त और वर्तमान कार्य-विधियों का लेखा-जोखा अपने मन में ले रहा था। जब अकलशा का नाम उसके सामने आया, उसका मन खिल उठा। उसे एक ज्योति मिली। उसकी विश्वसनीयता, प्रामाणिकता, नीति-निष्णातता व उदारता की गहरी छाप हमीरसिंह पर थी। वह तत्काल अन्य-मनस्क व चिन्तातुर सेठ के पास आया और अपनी परिस्थिति से उसे अवगत किया। सेठ ने उसके प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की और पूछा; इस समय मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? हमीरसिंह ने तत्काल उत्तर दिया, जब तक मैं विदेश रहूँ, आप मेरी चल-अचल सम्पत्ति को संभालें। आपकी प्रामाणिकता से मैं प्रभावित हूँ। मुझे दृढ़ विश्वास है, मेरी धरोहर आपके पास सर्वथा सुरक्षित रहेगी।

अकलशा ने शान्त स्वर में कहा—"महाराज!

बनिए का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। व्यवसाय में घाटा होते ही उसका मन धरोहर पर ललचा जाता है। आप अपनी सम्पत्ति मुझे न सौंपे।"

हमीरसिंह ने प्रत्युत्तर में कहा—"सेठ ! तुम मुझे चाहे जो कहो, मैं अपनी सम्पत्ति तुम्हारे पास ही छोड़ूंगा। तुम जैसे चाहो, इसका उपयोग करना। आवश्यकता पड़ने पर तुम इसके उपयोग में स्वतन्त्र हो। मैं विदेश से जब वापिस लौटूं, तुम्हारे पास जो कुछ हो, और जो कुछ देना चाहो, मुझे दे देना। यदि यह सारी सम्पत्ति तुम्हारे काम आ जाये, तुम्हारे पास कुछ भी न बचे, तो भी मुझे तुम्हारे से कुछ भी लेना-देना नहीं है। तुम इस सम्पत्ति को शीघ्र सम्भालो। आगे चलने के लिए मुझे अभी बहुत-सी तैयारियाँ करनी हैं। यदि सूर्योदय हो गया और मैं यहाँ से न जा सका, तो मेरे समक्ष जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो जायेगा।

अकलशा कुछ उत्तर न दे सका। उसके मुँह से केवल इतने शब्द निकले, यदि आपका मेरे पर इतना विश्वास है, तो मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत हूँ। किन्तु, आप जहाँ भी रहें, मुझे समय-समय पर कुशल सम्वादों से सूचित करते रहें। मैं भी महाराजा मानसिंह के समक्ष

अवसर पाकर आपकी निर्दोषता प्रमाणित करने का प्रयत्न करूंगा। जब उनकी आंखों में आपके प्रति भ्रातृत्व उमड़ेगा, मैं आपको तत्काल सूचित करूंगा।

हमीरसिंह को अकलशा से जैसी आशा थी, वैसा ही उत्तर मिला। वह प्रसन्नतापूर्वक अपने महलों में लौट आया। सूर्योदय होने से पूर्व ही उसने घोघा नगरी की सीमा लांघ दी और क्रमशः राज-सीमा भी लांघ गया।

धर्म का प्रभाव अतुलनीय होता है। आध्यात्मिक प्रगति के साथ-साथ भौतिक उपलब्धियां भी हो जाया करती हैं। अकलशा के साथ भी यही हुआ। धर्माराधना से उसकी चिन्ता दूर हो गई। प्रातःकाल होते ही अकलशा ने पन्द्रह लाख रुपये की थैलियां सेठ हीराचन्द के यहां पहुंचा दी। एक थैली कुछ फटी हुई थी। सेठ को महज अनुमान हो गया कि अकलशा के पास तो बहुत सम्पत्ति है। उसे किसी प्रकार की चिन्ता न रही। उसी समय सम्वाद आया, लाखा सार्थवाह के जहाज जावा बन्दरगाह पर पहुंच गये हैं। माल की विशेष क्षति नहीं हुई है। सेठ हीराचन्द को प्रसन्नता हुई। उसने पन्द्रह लाख रुपयों की थैलियों को उस सम्वाद के साथ अकलशा के पास पहुंचा

दिया। अकलशा और भद्रा को उससे प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही था।

हमीरसिंह की सम्पत्ति ने अकलशा की प्रतिष्ठा की रक्षा की थी; अतः उसके प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन में सेठ जागरूक हुआ। वह समय-समय पर राजा मानसिंह की सभा में आने-जाने लगा। राजा से उसकी घनिष्ठ मैत्री हो गई।

पाप चाहे कितना ही छुपकर क्यों न किया जाये, वह छुप नहीं सकता। एक दिन उसका बुरा परिणाम सामने आ ही जाता है। यही कामलता के साथ हुआ। वह एक दिन किसी पुरुष के साथ अपने अंतःपुर में प्रेम-क्रीड़ा कर रही थी। मानसिंह सहसा वहाँ पहुँच गया। उसने वह कुकृत्य अपनी आँखों से देखा। अपनी मुख्य रानी के इस अनौचित्य पर वह बहुत कुपित हुआ। उसे हमीरसिंह की निर्दोषता पर अपने-आप विश्वास हो गया। निर्दोष भाई को दिये गये कठोर दण्ड से उसका मन ग्लानि से भर आया। वह उससे पुनः मिलने तथा अपने राज्य में बुलाने के लिए अकुलाने लगा। उसे ज्ञात नहीं था कि हमीरसिंह कहाँ है और कैसे है? अधीरता के साथ उसने एक दिन अकलशा से उसका जिक्र किया। अकलशा ने सारी घटना

सुनाई और मानसिह के आग्रह पर हमीरसिह को बुला लिया।

निर्दोप भाई को दी गई कठोर यंत्रणा, कामलता के दुष्कृत्य आदि से मानसिह विरक्त बन गया। उसने हमीरसिह को राज्यासन पर विठाया और स्वयं दीक्षित हो गया। हमीरसिह ने अपनी भाभी के हृदय को वदला। दुष्कृत्य छुड़ाया और वोध दिया। जो कर्म करने में शूर होते हैं, वे धर्म करने में भी शूर होते है। कामलता ने यही प्रमाणित किया। दीक्षित होकर उसने कठोर तपश्चरण आरम्भ किया। अकलंशा और भद्रा; दोनों भी दीक्षित हुए। तप संयम से उसने अपनी आत्मा को भावित किया। अन्तिम समय सभी ने अनशन किया और स्वर्ग में गये।

○

: ६ :

राजा भद्रसिंह

सौराष्ट्र में कल्याणपुर नगर था। वहाँ के राजा का नाम भद्रसिंह, महारानी का नाम सुन्दरी और राजकुमार का नाम कुलदीपसिंह था। राजा भद्रसिंह की सत्य पर अटूट निष्ठा थी। अपने जीवन में उसने एक बार भी असत्य का प्रयोग नहीं किया था। जीवन में बड़े-बड़े जटिल प्रसंग उपस्थित हुए और उनके कारण उसे कष्ट भी बहुत सारे झेलने पड़े, किन्तु, वह धर्म से नहीं डिगा। रानी और राजकुमार के संस्कारों में भी धर्म ओतप्रोत था। तीनों का छोटा-सा परिवार जहां सांसारिक वैभव में एक रूप था, वहाँ अध्यात्म-साधना में भी समरस था। इन्द्र एक दिन अपनी सभा में अध्यात्म-चर्चा कर रहा था। धार्मिक महापुरुषों के नाना जीवन-प्रसंग चल रहे थे। इन्द्र स्वयं ऐसे अनेक प्रसंग सुना रहा था और दूसरे देवों से सुन भी रहा था। एक प्रसंग पर इन्द्र ने कहा—"अन्य व्रतों की अपेक्षा सत्य का पालन बहुत

कठिन है। किसी भी कठोर परिस्थित में सत्य का पूर्णतया पालन अनूठे आत्म-साहस का परिचायक होता है। मर्त्य लोक में सत्यवादी बहुत थोड़े है।"

उपस्थित देवों ने इन्द्र के कथन का अनुमोदन किया और एक देव ने कहा—"मर्त्यलोक में सत्यवादी तो एक भी मिलना असम्भव है। उनका तो निर्माण ही असत्य की आधार शिला पर हुआ है।"

इन्द्र ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"सत्यवादी कोई भी नही है, यह स्वयं में सत्य नहीं है। मनुष्य लोक में असत्य अधिक है, किन्तु, वहां से सत्य का लोप नही हो गया है। राजा भद्रसिंह इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कोई भी शक्ति उसे सत्य से विचलित नही कर सकती।"

एक देव को इन्द्र का यह कथन नही रुचा। उसने कहा—"यदि आप अनुमति दें, तो मैं परीक्षा करना चाहता हूँ। देव-शक्ति के सम्मुख किसी भी मनुष्य की संकल्प-शक्ति नहीं ठहर सकती। उसे झुकना ही होता है।"

इन्द्र की अनुमति पाकर देव मनुष्य लोक में आया। बहुत बड़ी सेना बनाई और राजा भद्रसिंह पर

चढ़ कर आ गया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। योद्धाओं ने अपना अतुल पराक्रम दिखाया, किन्तु, देव-सेना के सामने राजा की सेना ठहर न सकी। भद्रसिंह हार गया। राज्य पर विरोधी शक्ति का अधिकार हो गया। राजा, रानी और राजकुमार को राजमहल छोड़कर अरण्य में चला जाना पड़ा।

विरोधी शक्ति जब प्रबल होती है, तब वह चैन नहीं लेने देती। तीनों राजवंशी जहां भी पहुँचते, शत्रु की सेना वहाँ पहुँच जाती और उन्हें आगे-से-आगे खदेड़ देती। जंगल में भटकते हुए पत्थरों और कण्टकों की मार से तीनों देही लहुलुहान हो गये। शरीर पसीने से तर-बतर हो गया। थकावट के मारे शरीर गिर रहा था। भूख और प्यास से तीनों ही अकुला रहे थे। राजकुमार चलते-चलते सुबकने लगा। उसे देख राजा और रानी के दिल भी भर आये। किसी प्रकार का आश्रय न पाकर तीनों ही व्यक्ति एक वृक्ष के नीचे रुके। पथिक के रूप में देव उपस्थित हुआ। राजा से उसके सुख-दुःख के बारे में पूछा। तीनों को भूख से बिलखते हुए देखकर पथिक ने खाने के लिए उन्हें मांस भेंट किया। देखते ही राजा चौंका और बोला—

"भूख से हम देह-त्याग कर सकते हैं, किन्तु, हमारे लिए मांस-भक्षण सर्वथा त्याज्य है। पथिक ने बार-बार आग्रह किया, तो अन्यमनस्क राजा रानी और राजकुमार के साथ वहां से उठकर चल दिया।"

कष्ट जीवन की खरी कसौटी होते है; किन्तु, जब उनका क्रम आरम्भ होता है, तो काफी समय तक अनवच्छिन्न चलता ही रहता है। कई बार तो प्रतिदिन वह द्विगुणित होकर ही आता है, जिससे अल्प बली लड़खड़ा जाता है और अपने लक्ष्य से विचलित भी हो जाता है। राजा भद्रसिंह का जीवन भी शाण पर चढ़ा हुआ था। उसे अभी तक बहुत तरासा जाना था। थोड़ी दूर चलकर तीनों ने फिर विश्राम लिया। राजकुमार निराश बैठा अपने भविष्य का कुछ चिन्तन कर रहा था। अचानक एक काला सांप निकला और उसने राजकुमार को डस लिया। राजकुमार एक क्षण में ही धराशायी हो गया। राजा और रानी ने जब यह देखा, उनका धीरज टोल गया। उस अप्रत्याशित दुःख को वे सह नहीं सके। राज्य-वैभव का छीना जाना, मार्ग की अतिशय थकान आदि कष्ट इसके समक्ष हल्के पड़ गये। रानी ने राजकुमार को अपनी

गोद में लेटा लिया और उसके घाव को अपने आंसुओं से धोने लगी। कभी वह पुत्र को अपनी छाती से भींड़ लेती, तो कभी उसे सहलाने लगती। राजा भी गमगीन बैठा आंसुओं को बिना निकाले उन्हें पीता ही जा रहा था।

मानस जब अतिशय :ख से भर जाता है और उसे बंटाने वाला कोई नहीं होता है, तो व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है। राजा और रानी चैतन्य-शून्य होकर वहीं गिर पड़े। वही देव वैद्य बनकर वहां आया। शीतल जल और हवा के प्रयोग से उसने राजा और रानी को सचेतन किया। उन्हें धीरज बंधाते हुए बोला—"तुम सौभाग्यशाली हो। तुम्हारे इस संकट के समय भी मैं पहुँच गया हूँ। यदि तुम एक प्रयत्न करो, तो राजकुमार अभी जीवित हो जायेगा।"

राजा ने उत्सुकतावश पूछ ही लिया। वैद्य ने कहा—"यह धनुष और बाण तुम अपने हाथ में लो। सामने देखो, उस वृक्ष पर जामुनी रंग का एक पक्षी बैठा है। निशाना साध कर उसे मारो। उसके माँस का घाव पर लेप करो। दो-चार क्षणों में ही विष दूर हो जायेगा। मैंने ऐसा प्रयोग कई बार किया है और

वह शत-प्रतिशत सफल हुआ है ।"

राजा का माथा ठनका। उसने उसका प्रतिवाद किया—"मैं अपने पुत्र की रक्षा के लिए दूसरे के पुत्र की हत्या करूं, यह नहीं हो सकता। मेरे लिए जितना महत्त्व राजकुमार का है, किसी के लिए उसका भी उतना ही महत्त्व है। अपना घर बसाने के लिए दूसरे का घर वीरान करूं, यह कहां का न्याय? प्राणि-वध महापाप है। अपने धर्म को गिरवी रखकर मैं तो यह स्वीकार नहीं कर सकता।"

वैद्य ने राजा और रानी को समझाने के लिए अनेक प्रयत्न किये, किन्तु, वे अपने प्रण से नहीं डिगे। हताश होकर वैद्य चला गया। राजा और रानी ने राजकुमार की अन्त्येष्टि के लिए लकड़ियां बीनने का अथक प्रयत्न किया, किन्तु, उन्हें सफलता नहीं मिली। विवश होकर अपने प्रिय पुत्र का शव वहीं छोड़कर उन्हें जाना पड़ा।

देव राजकुमार के पास आया। उसने अपनी माया का प्रतिसंहरण किया और कुमार उठ बैठा। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। माता-पिता नजर नहीं आए। वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसके मन में ...तरह के संकल्प-विकल्प उठने लगे। मुझे अकेले

को छोड़कर वे दोनों क्यों गये ? कहाँ गए ? कहीं उन्हें व्याघ्रादिक हिंसक प्राणियों ने अपना भक्ष्य तो नहीं बना लिया है ? अपनी इच्छा से वे मुझे यहां छोड़कर जाएं, ऐसा तो हो नहीं सकता। बहुत समय तक वह वहाँ बिलखता रहा। पर उसे धीरज बंधाने वाला कोई भी नहीं आया। वह उठा और माता-पिता की खोज में वहाँ से चल पड़ा। भाग्य ने कुछ पलटा खाया। प्रतिकूलता अनुकूलता में बदल गई। वह एक शहर में पहुँचा। सुमनसेन वहाँ का राजा था। नगर में घूमता हुआ कुमार राजमहलों के नीचे पहुँच गया। वातायन में बैठे राजा ने उसे देखा। आकृति-दर्शन से ही वह उससे बहुत प्रभावित हुआ। अपने अनुचरों को भेजकर उसे अपने पास बुलाया। योग्य समझकर राजा ने उसे अपने मुख्य अधिकारी के वरीष्ठ पद पर नियुक्त किया।

राजा और रानी जंगलों में भटकते हुए देहातों व कस्बों की खाक छान रहे थे। फूल-पत्तियों का नीरस भोजन करते हुए तथा फटे-पुराने कपड़ों में अपने शरीर को छुपाए कष्ट के दिन काट रहे थे। इतना होने पर भी धर्म के प्रति उनकी निष्ठा तनिक भी कहीं नहीं डोली। दोनों का एक ही चिन्तन

रहता, अन्तिम साँस तक भी धर्म में अडिग रहना है।

देवी और आसुरी वृत्तियों का खुल्ला संघर्ष था। देव राजा और रानी को विचलित करना चाहता था और वे दोनों किसी भी कीमत पर ऐसा करने को तैयार नही थे। अपने लक्ष्य में असफल रहने पर देव और अधिक क्रुद्ध हुआ। इस बार उसने क्रूरता की सीमा ही लाँघ दी। राजा और रानी घूमते हुए उसी नगर में पहुँच गए, जहाँ कुमार वरीष्ठ अधिकारी था। बड़ा शहर देखकर राजा और रानी ने कुछ सुख की साँस ली। उन्हें लगा, इस शहर में कहीं अन्न और पानी सुलभता से मिल सकेगा। राजा ने रानी को शहर के बाहर ठहराया और स्वयं अपनी मुद्रिका बेचने के निमित्त बाजार में आया। राजा-रानी की वह मुद्रिका एक सबल आधार थी।

राज-महलों के पास एक विख्यात जौहरी की कान थी। राजा वहाँ पहुँचा। उसने अपनी मुद्रिका बेचने का प्रस्ताव रखा। राजा और कानदार के बीच बातचीत चल रही थी। राजा सुमनसेन की महारानी अपने महल के गवाक्ष में बैठी, यह सब देख रही थी। उसने राजा भद्रसिंह को अपने पास बुलाया।

मुद्रिका जौहरी के पास ही रह गई। भद्रसिंह ने वहाँ दूसरा ही दृश्य देखा। रानी उससे आकर्षित थी और सहवास के लिए उसे उकसा रही थी। भद्रसिंह अपने प्रण पर अडिग था। उसने रानी को बहुत समझाया, किन्तु, वह उसी तरह अपनी बात दुहराती रही। दोनों ही ओर से अपने-अपने पक्ष का आग्रह था। रानी ने उसे अपने सम्मान का प्रश्न भी बना लिया। उसने भद्र-सिंह को चुनौती देते हुए कहा—मेरा प्रस्ताव स्वीकार करो, अन्यथा दुर्गति होगी। भद्रसिंह वहाँ से उठा और अपने बचाव के लिए दौड़ा। रानी ने हल्ला मचाया और उसे गिरफ्तार करवा दिया। आरक्षकों ने उसे राजा के पास उपस्थित किया। रानी के साथ बलात्कार के अभियोग में उसे तत्काल फांसी का आदेश दे दिया गया। जल्लादों ने अपनी तैयारी की और भद्रसिंह को फाँसी के तख्ते पर उपस्थित कर दिया गया।

प्रतीक्षा के क्षण बहुत लम्बे हो जाते हैं। रानी शहर के बाहर बैठी भद्रसिंह की बाट जोहती रही। दो-चार घंटे बीत जाने पर भी जब वह वापिस नहीं लौटा, तो उसके मन में रह-रह कर अनिष्ट की आशंका उभरने लगी। वह इधर-उधर घूमने लगी। कुछ ही

दूरी पर उसने एक भयानक दृश्य देखा। एक बालक का शव पड़ा था। रानी को लगा, अभी इसमें कुछ साँस अवशिष्ट है। वह उसके पास आई। उसे गोद में सुलाया। वस्तुतः वह जीवित नहीं था। वह उसे देख ही रही थी कि उधर से दो आरक्षक पुरुष आ निकले। बाल-हत्या के अभियोग में उन्होंने रानी को गिरफ्तार कर लिया। शव के साथ उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। राजा ने उसे कुछ भी नहीं पूछा और उसे भी फांसी का आदेश दे दिया गया।

राजा भद्रसिंह और रानी सुन्दरी; दोनों को एक ही स्थान पर फांसी के लिए लाया गया। दोनों ने एक दूसरे की घटना सुनी। भद्रसिंह ने रानी से कहा—अब अपने दुःख-मोचन का समय निकट आ गया है। इस दुःखपूर्ण जीवन को समाप्त कर नया जीवन ग्रहण करने का अवसर आया है। धीरज धरो। धर्म का स्मरण करो। अपने सत्य का स्मरण करो। आर्त्त-ध्यान छोड़ो और अध्यात्म में लीन बनो। यह फांसी नहीं है, दुःखमय जीवन की समाप्ति है।"

भद्रसिंह ने अनेक परीक्षाएं दी थीं और ऐसा करते हुए जीवन के अन्तिम कगार तक पहुंच गया

था, किन्तु अन्तिम परीक्षा अब भी अवशिष्ट थी। एक ओर फांसी पर लटकने की तैयारियां पूर्ण हो रही थीं और दूसरी ओर राजा और रानी के पास वही देव एक ब्राह्मण के रूप में आया। दोनों के प्रति गहरी सहानुभूति व्यक्त करते हुए उसने कहा—"श्रीमन्! मृत्यु के साथ अठखेलियां कैसे कर रहे हैं। आपका यह तेजस्वी ललाट मुझे यह संकेत कर रहा है कि आप बहुत बड़े व्यक्ति हैं। आप से अनगिन व्यक्तियों का हित-साधन हो सकता है। आप इस स्थान से हट जायें।"

राजा ने सहज भाषा में कहा—"हम अभियोगी हैं। मृत्यु के इस समय को अस्वीकार कैसे कर सकते हैं।

ब्राह्मण ने बचने का मार्ग बताते हुए कहा–हमारे राजा का अपनी जाति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है। क्षत्रिय जाति को वह अवध्य मानता है। यदि आप एक बार मांस-भक्षण कर लें, तो वह आपको अपना सजातीय मानेगा और इस प्रकार आप सहजता से बच जायेंगे। यदि यह स्वीकार न हो, तो राजा के साथ द्यूत-क्रीड़ा करें। मैं आपको अपनी शक्ति-बल से द्यूत में उसका सारा वैभव और अधिकार दिला सकता हूँ। इस फांसी से मुक्ति होगी और राज्य-सुख प्राप्त

होगा।

यदि यह भी सम्भव न हो सके, तो एक अन्य मार्ग भी है। वह सबसे सीधा भी है। आप दोनों के बदले मैं और मेरी धर्म-पत्नी फांसी पर चढ़ने को तैयार है। राजा के समक्ष हम अपराध स्वीकार कर लेंगे। हम दुःखी है, अभाव ग्रस्त है और जीवन के अवशिष्ट दिन गिन-गिन कर गुजार रहे हैं। आप से बहुतों का भला होगा, अतः इस प्रस्ताव को तो अवश्य स्वीकार करें। हमारे जीवन के बारे में आप तनिक भी चिन्ता न करें।"

राजा और रानी ने ब्राह्मण का आभार मानते हुए कहा—"आपने हमारे पर अनुग्रह किया। हमें बचाने की आपकी उत्कण्ठा का हम हार्दिक स्वागत करते है, किन्तु, दयार्द्रचेता ! जिस प्रकार आपके अन्तःकरण में दया का वास है, उसी प्रकार हम भी अहिंसा के उपासक हैं। आपकी बलि देकर हम बचें, हमारा अन्तःकरण यह स्वीकार नही करता। इस क्षण भंगुर जीवन की रक्षा के लिए मांस-भक्षण और द्यूत-रमण जैसी घृणित प्रवृत्तियां हमारे मे नहीं होंगी। झूठ बोलकर आपके सिर अभियोग लगायें, यह भी कभी नही होगा। इस शरीर को एक दिन अवश्य छोड़ना होगा। कितना

अच्छा हो, हम इसकी ममता से ऊपर उठें और समता में लीन हों।"

देव के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए। राजा भद्रसिंह अपने सत्य से, धार्मिक निष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। देव को झुकना पड़ा। जिस समय राजा और रानी को फांसी पर लटकाया गया, निमेष मात्र में स्थितियां बदल गईं। राजा भद्रसिंह अपनी राज-सभा में सभा-सदों से घिरा बैठा है। राजा के वाम पार्श्व में महारानी सुन्दरी थी। राजकुमार कुलदीप-सिंह राजा के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा था। नागरिकों में हर्ष की लहर दौड़ गई। राजा और रानी भी समझ नहीं पाये कि यह स्वप्न है या विगत-जीवन स्वप्न था। एक अपराधी के रूप में देव राजा भद्रसिंह के समक्ष प्रस्तुत हुआ। उसने इन्द्र-सभा का वृत्त बताया और अपनी अधमता के लिए पुनः-पुनः क्षमा-याचना की। राजा की धार्मिक निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

उत्कर्ष और अपकर्ष की धारा में बहता जीवन विराग के निकट पहुँच जाता है। राजा भद्रसिंह ने ऐश्वर्य का उपभोग भी प्रचुरता से किया और कष्ट भी बहुत सहे। वार्धक्य में विराग का विशेष वेग बढ़ा

अच्छा हो, हम इसकी ममता से ऊपर उठें और समता में लीन हों।"

देव के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए। राजा भद्रसिंह अपने सत्य से, धार्मिक निष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। देव को झुकना पड़ा। जिस समय राजा और रानी को फांसी पर लटकाया गया, निमेष मात्र में स्थितियां बदल गई। राजा भद्रसिंह अपनी राज-सभा में सभा-सदों से घिरा बैठा है। राजा के वाम पार्श्व में महारानी सुन्दरी थी। राजकुमार कुलदीप-सिंह राजा के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा था। नागरिकों में हर्ष की लहर दौड़ गई। राजा और रानी भी समझ नहीं पाये कि यह स्वप्न है या विगत-जीवन स्वप्न था। एक अपराधी के रूप में देव राजा भद्रसिंह के समक्ष प्रस्तुत हुआ। उसने इन्द्र-सभा का वृत्त बताया और अपनी अधमता के लिए पुनः-पुनः क्षमा-याचना की। राजा की धार्मिक निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

उत्कर्ष और अपकर्ष की धारा में बहता जीवन विराग के निकट पहुँच जाता है। राजा भद्रसिंह ने ऐश्वर्य का उपभोग भी प्रचुरता से किया और कष्ट भी बहुत सहे। वार्धक्य में विराग का विशेष वेग बढ़ा

होगा ।

यदि यह भी सम्भव न हो सके, तो एक अन्य मार्ग भी है । वह सबसे सीधा भी है । आप दोनों के बदले मैं और मेरी धर्म-पत्नी फांसी पर चढने को तैयार हैं। राजा के समक्ष हम अपराध स्वीकार कर लेंगे । हम दु:खी हैं, अभाव ग्रस्त हैं और जीवन के अवशिष्ट दिन गिन-गिन कर गुजार रहे हैं । आप से बहुतों का भला होगा, अतः इस प्रस्ताव को तो अवश्य स्वीकार करें। हमारे जीवन के बारे में आप तनिक भी चिन्ता न करें ।"

राजा और रानी ने ब्राह्मण का आभार मानते हुए कहा—"आपने हमारे पर अनुग्रह किया ।हमें बचाने की आपकी उत्कण्ठा का हम हार्दिक स्वागत करते हैं, किन्तु, दयार्द्रचेता ! जिस प्रकार आपके अन्तःकरण में दया का वास है, उसी प्रकार हम भी अहिंसा के उपासक हैं। आपकी बलि देकर हम बचें, हमारा अन्तःकरण यह स्वीकार नहीं करता । इस क्षण भंगुर जीवन की रक्षा के लिए मांस-भक्षण और द्यूत-रमण जैसी घृणित प्रवृत्तियां हमारे से नहीं होंगी । झूठ बोलकर आपके सिर अभियोग लगायें, यह भी कभी नहीं होगा। इस शरीर को एक दिन अवश्य छोड़ना होगा । कितना

अच्छा हो, हम इसकी ममता से ऊपर उठें और समता में लीन हों।"

देव के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए। राजा भद्रसिंह अपने सत्य से, धार्मिक निष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। देव को झुकना पड़ा। जिस समय राजा और रानी को फांसी पर लटकाया गया, निमेष मात्र में स्थितियां बदल गईं। राजा भद्रसिंह अपनी राज-सभा में सभा-सदों से घिरा बैठा है। राजा के वाम पार्श्व में महारानी सुन्दरी थी। राजकुमार कुलदीप-सिंह राजा के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा था। नागरिकों में हर्ष की लहर दौड़ गई। राजा और रानी भी समझ नहीं पाये कि यह स्वप्न है या विगत-जीवन स्वप्न था। एक अपराधी के रूप में देव राजा भद्रसिंह के समक्ष प्रस्तुत हुआ। उसने इन्द्र-सभा का वृत्त बताया और अपनी अधमता के लिए पुनः-पुनः क्षमा-याचना की। राजा की धार्मिक निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

उत्कर्ष और अपकर्ष की धारा में बहता जीवन विराग के निकट पहुँच जाता है। राजा भद्रसिंह ने ऐश्वर्य का उपभोग भी प्रचुरता से किया और कष्ट भी बहुत सहे। वार्धक्य में विराग का विशेष वेग बढ़ा

तथा राजा व रानी प्रव्रजित हुए। राज्य-भार कुलदीप सिंह को सौंपा गया। उसने भी अपने पिता की तरह धर्म में दृढ़ रह कर प्रजा का पालन किया तथा अंतिम समय साधना कर जीवन का उत्कर्ष साधा।

●●●